बौद्धभारतीग्रन्थमाला—३३
Baauddha Bharati Series-33

प्रसिद्धबौद्धदार्शनिकाचार्यैः
आर्यनागार्जुनपादैः प्रणीतः

सुहल्लेखः

(हिन्दीरूपान्तरसहितः)

बौद्धभारती

प्रधानसम्पादकः

स्वामी द्वारिकादासशास्त्री

बौद्धभारतीग्रन्थमाला—३३
Baudda Bharati Series

प्रसिद्धबौद्धदार्शनिकाचार्यैं

आर्यनागार्जुनपादैः प्रणीतः

सुहृल्लेखः

[हिन्दीरूपान्तरसहितः]

प्रधानसम्पादकः

स्वामी द्वारिकादासशास्त्री

Bauddha Bharati Series-33

SUHRILLEKHA

[Friendly epistle]

By

ARYA NAGARJUNA

To

KING SATAVAHANA

Editor & Translater

SWAMI DWARIKA DAS SHASTRI

BAUDDHA BHARATI,

VARANASI

1994.

बौद्धभारतीग्रन्थमाला–३२

आर्यनागार्जुनपादैः

राज्ञे सातवाहनाय

लिखितः

सुहृल्लेखः

प्रतिसंस्कर्ता

हिन्दीरूपान्तरकारः, सम्पादकश्च

स्वामी द्वारिकादासशास्त्री

बौद्धभारती

वाराणसी

२०५१ विक्रमाब्दः] १९९५ ई० [२५३८ बुद्धाब्दः

प्रकाशक
© बौद्धभारती
पो० बॉ० १०४९,
वाराणसी-२२१ ००१

Publishers,
© Bauddha Bharati
Post Box : 1049
Varanasi-221 001

प्रथम संस्करण । १९९५

First Edition.
1995.

मूल्य (Price) : 40/= रु०

मुद्रक :
साधना प्रेस,
काटन मिल कालोनी,
वाराणसी-२

Printers :
Sadhana Press,
Cotton mill Colony,
VARANASI-2

प्रकाशकीयम्

इदमाद्यं पदस्थानं सिद्धि-सोपानपर्वणाम् ।
इयं सा मोक्षमाणानामजिह्मा राजपद्धतिः ॥

यह हमारे लिये अत्यधिक प्रमोद का अवसर है कि आज हम बौद्ध-भारतीग्रन्थमाला के ३३वें पुष्प के रूप में, आर्य नागार्जुनकृत सुहृल्लेख ग्रन्थ (हिन्दीरूपान्तर सहित) आप लोगों के सम्मुख प्रस्तुत कर रहे हैं।

यद्यपि बौद्धदर्शन के प्रसिद्ध 'शून्यवाद' मत के प्रवर्तक आर्य नागार्जुन द्वारा रचित अन्य सभी ग्रन्थ (१. मध्यमक शास्त्र, २. विग्रहव्यावर्तनी ३. रत्नावली आदि), केवल विद्वज्जनों द्वारा ही बोधगम्य होने के कारण, उन्हीं के द्वारा संग्राह्य हो सकते हैं; परन्तु सुहृल्लेख के लिये ऐसा नहीं कहा जा सकता; उसका कारण यह है कि यह ग्रन्थ उस व्यक्ति (राजा सातवाहन) को सम्बोधित कर लिखा गया है जो गृहस्थ धर्मों में आधिकारिक रूप से व्यापृत रहते हुए भी अपने व्यक्तिगत जीवन में कुशलकर्म हेतु सतत सावधान था। अतः साधारण गृहस्थ जन के लिये भी यह ग्रन्थ उतना ही संग्राह्य है, जितना विद्वानों के लिये ।

विद्वान् उपदेशक ने इस ग्रन्थ में जहाँ प्रतीत्यसमुत्पाद के साक्षात्कारहेतु साधक को जितनी गम्भीरता से प्रेरित किया है, उतनी ही गम्भीरता उन्होंने दानपारमिता आदि सामान्य सत्कर्म-साधना-वर्णन में भी प्रदर्शित की है। साथ ही, इन दोनों का वर्णन करते समय साधक पर कोई अतिरिक्त शास्त्रीय भार डालने का प्रयत्न भी नहीं किया। सच बात तो यह है कि लेखक ने यह लघुग्रन्थ सन्तों की भाषा में लिखा है, न कि दार्शनिकों की भाषा में। अतः इसके सर्वजनबोधगम्य होने में कोई कठिनाई नहीं है। यही कारण है कि यह लघु पत्र व्यक्तिविशेष के लिये लिखा गया होने पर भी बहुत समय तक 'जन-जन की थाती' बना रहा। और साधारण जन भी उसे वही महत्त्व देता रहा जो बौद्ध दर्शन के अन्य बड़े से बड़े ग्रन्थों को दिया जाता था।

परन्तु दैवदुर्विपाक से इसी बीच कराल काल का एक ऐसा झोंका आया कि यह लघुकाय ग्रन्थ भी, बौद्धसाहित्य के अन्य ग्रन्थों की तरह भारतभूमि से सर्वथा विलुप्त हो गया। यह तो हमारा सौभाग्य था कि विलुप्त होने से बहुत पूर्व इस ग्रन्थ का भी, अन्य बौद्ध ग्रन्थों की तरह, भोट भाषा में प्रामाणिक अनुवाद हो चुका था। उसी प्रामाणिक अनुवाद के सहारे, भारतीय स्वतन्त्रता की पुण्य वेला के प्रथम दशक में, बौद्धसाहित्य के उन्नयन हेतु पुनः स्थापित नवनालन्दा महाविहार, नालन्दा (बिहार) के निदेशक, बौद्धसाहित्य के प्रमुख विद्वान् डॉ० **सातकारी मुखर्जी** के निर्देशन में भोट भाषा के अधिकारी प्रवक्ता श्री **रिगजिन लुनडुब लामा** ने सन् १९५७ ई० में, राष्ट्र भाषा (हिन्दी) में पुनः अनूदित कर दिया। इसका सम्पादन-संशोधन किया था प्रो० **लक्ष्मीनारायण तिवारी** (वर्तमान में-निदेशक डा० भो० ले० इन्स्टीट्यूट ऑफ इण्डोलोजी, दिल्ली) ने किया था।

यह अनुवाद हमें आर्य नागार्जुन द्वारा लिखित संस्कृत के अत्यधिक समीप लगा। इसको पढ़ने के बाद हमने इसका संस्कृत अनुवाद प्रकाशित करने का संकल्प किया। इस संकल्प की पूर्तिहेतु, इसी अनुवाद के आधार पर बौद्धभारती के विद्वानों ने इसे पुनः अनुष्टुप्-श्लोकबद्ध रूपान्तरण कर २३५ अनुष्टुप्-श्लोकों में निबद्ध कर दिया।

यह रूपान्तरण कितना प्राञ्जल हुआ है?—इसमें विद्वान् ही प्रमाण हैं। वैसे, हमें तो भय लग रहा है कि जिसे इस समग्र कथानक की जानकारी न हो वह इन श्लोकों को आर्य नागार्जुन कृत मूल रूप समझने की ही भूल न कर बैठे!

अस्तु आशा है, हमारे इस साहित्य-सुरक्षा के कुशल कर्म से विद्वज्जन सन्तुष्ट होंगे।

बौद्धभारती भवन,
वाराणसी
वसन्तपञ्चमी, २०५१ वि०

विद्वज्जनवशम्वद
अध्यक्ष, बौद्धभारती

सुहृल्लेखस्य

विषयक्रमः

नागार्जुनबुधवर्यैर्लिखितस्यास्य सुहृल्लेखस्य ।
सूचीयं विषयाणां ज्ञेया पृष्ठाङ्कसहिताऽत्र ॥

विषयाः पृष्ठाङ्काः

१. रचनायाः प्रयोजनम् १
२. अत्र श्रद्धा विधेया १
३. रचनायां प्रामाण्यम् २
४. बुद्धोपदिष्टा षडनुस्मृतयः २
५. दशकुशलकर्मसेवनम् २
६. दानपारमिता ३
७. शीलपारमिता ३
८. षट् पारमिताः ४
९. मातृ-पितृपूजा ४
१०. दश शीलान्यनुपालनीयानि ४
११. शीलानुपालनमाहात्म्यम् ५
१२. मात्सर्यादिषु शत्रुभावः ५
१३. अप्रमादोऽमृतपदम् ५
१४. तस्य माहात्म्यवर्णनम् ६
१५. क्षान्तिपारमिता ६
१६. वैरपरित्यागः ६
१७. चित्तस्य त्रैविध्यम् ७
१८. प्रवक्तॄणां त्रैविध्यम् ७
१९. चत्वारः पुद्गलाः प्रोक्ताः ८
२०. तत्रास्त्याम्रफलोपमा ८
२१. परस्त्रीदर्शनं हेयम् ९
२२. कर्तव्यश्चित्तनिग्रहः ९
२३. प्रहेयाः भववासनाः १०
२४. योगयुक्तस्य प्राशस्त्यम् १०
२५. सत्कायदृष्टिगर्हणम् १०
२६. कामतृष्णापरित्यागः ११
२७. योनिशो मनस्कारः ११
२८. (क) प्रज्ञा-शील विहीनो न सत्करणीयः ११
(ख) पूजार्हः शीलसम्पन्नः १२
२९. लोकधर्मान् परित्यज्य समदर्शी भवेद् बुधः १२
३०. (क) विप्रादीनां हितायापि पापमकरणीयम् १२
(ख) पुण्यपथगामिता १३
३१. पापकर्मविपाकः १३
३२. आर्यधनानि सप्त १३

३३. षड् दुर्गतयस्त्याज्याः १४ ३४. सन्तोषः परमं धनम् १४
३५. धनाधिक्येन दुःखम् १४ तत्र निदर्शनम् १५
३६. त्रिविधाः पत्न्यस्त्याज्याः १५ ३७. सत्कार्यास्त्रिविधाः पत्न्यः १५
३८. भोजनं शरीरस्थितिमात्रार्थम् १६ ३९. क्षेमङ्करः स्वल्पस्वापः १६
४०. चत्वारि ध्यानानि १७ ४१. तेषां माहात्म्यम् १७
४२. प्रयत्यं कुशलाचारे १७ ४३. (तत्र) गङ्गाजलनिदर्शनम् १७
४४. प्रहेयाणि पञ्च नीवरणानि १८ ४५. धर्माग्राः यत्नेनाभ्यस्याः १८
४६. तदभ्यासोपायः १८ ४७. सम्यग्दृष्ट्या तु निर्वाणम् १९
४८. मिथ्यादृष्ट्या दुर्विपाकः १९ ४९. चतस्रो विपर्ययदृष्टयः १९
५०. तृष्णाऽविद्ये जगत्सृष्टौ कारणम् २० ५१. त्रीणि संयोजनानि २०
५२. ध्येयं सत्यचतुष्टयम् २१ ५३. तिस्रः शिक्षाः सदाऽभ्यस्याः २१
५४. निर्वाणाय मतिस्ते चेद् भाव्या कायगता स्मृतिः २१
५५. जीवनं वायुवच्चलम् २२ ५६. भस्मान्तानि शरीराणि २२
५७. शरीरस्यास्य का कथा ! २२
५८. कदलीदलनिभं भवे गमनागमनम् २३
५९. कच्छपनिदर्शनेन मानवं जन्म दुर्लभम् २३
६०. तत्रौपम्यम् २४
६१. अनुकूलसाधनायां सहायकं महाचक्रचतुष्टयम् २४
६२. कल्याणमित्रसङ्गो हि ब्रह्मचर्यस्य पूरकः २४
६३. अष्टावक्षणाः २५
६४. क्षणसम्पत्त्यै प्रयतनीयं येन पुनर्भवो न स्यात् २५
६५. पुनर्भवे दोषाः २६
६६. सांसारिकसम्बन्धे पुनर्जन्मैव हेतुः २६ ६७. अहो मूढस्य मूढता ! २६
६८. कथं स्यात् मातृगणना ? २७
६९. ऐन्द्रं पदमवाप्याप्यन्ते मर्त्यलोके गतिर्ध्रुवा २७
७०. क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोके प्रवेशः २८
७१. सुमेरावुषित्वाऽपि अन्ते निरयपातः २८
७२-७३. त्रिविधा नरकयातनाः २८

७४. ब्रह्मकायिकदेवलोकसुखभोगानन्तरमव्यवीचिपातः २९
७५. सूर्य-चन्द्रपदं प्राप्याप्यन्तेऽन्धन्तमसि पातः २९
७६. मृत्युमेवं विनिश्चित्य पुण्यदीपं प्रकाशय ३०
७७. रौरवं नरकं यान्ति प्राणिनो ये कुमार्गगाः ३०
७८. तत्र विविधदुःखवेदनानामनुभवः ३१
७९. तप्तलौहद्रवपानम् ३१
८०. श्वभिराकृष्य भक्षणम् ३१
८१. नानाविधकीटदशनम् ३१
८२. अग्नौ कूष्माण्डवत् पाकः ३२
८३. नोपदेशो हि मूर्खाणाम् ३२
८४. तस्मै विपाकानुभवकथा वृथा ३२
८५. तृष्णा अवीचिनरकयोः साम्यम् ३३
८६. त्रिशतकुन्तनिर्भेदोऽपि नारकीयदुःखतुलां नार्हति ३३
८७. दुराचारेण नारकीयजीवने वृद्धिः ३३
८८. दुराचारोऽकुशलविपाकानां बीजम् ३४
८९. तिर्यग्योनिषु जायमानदुःखानां वर्णनम् ३४
९०. पशूनां वधेऽन्येऽपि हेतवः ३५
९१-९६. प्रेतलोके जायमानदुःखानां वर्णनम् ३५-३६
९७. मात्सर्य-लोभावेव दुःखभोगहेतू ३७
९८. निर्वाणेप्सुभिः स्वर्गसुखमपि नाभिवाञ्छनीयम् ३७
९९. स्वर्गतश्च्युतेश्चिह्नानि ३७
१००. पृथ्वीवासोऽपि दुःखदः ३८
१०१. तिर्यग्योनिः प्रेतयोनिश्च दुःखदैव ३८
१०२. आसुरी योनिरपि दुःखदा ३८
१०३. अपुनर्जन्म यतनीयम् ३९
१०४ प्रयासेऽस्मिन्नेका उपमा ३९
१०५. निर्वाणं प्रापणीयम् ३९
१०६ बोध्यङ्गसप्तकम् ४०

१०७. प्रज्ञाध्यानयोरविनाभावित्वम् ४०
१०८. दशाव्याकृता लोकाः ४०
१०९–१११. प्रतीत्यसमुत्पादः ४१
११२. प्रतीत्यसमुत्पादमाहात्म्यम् ४२
११३. आर्याष्टाङ्गिको मार्गः ४२
११४. जातिर्दुःखा ४३
११५. आर्यसत्यचतुष्टयम् ४३
११६. सद्धर्मसाक्षात्कारमाहात्म्यम् ४३
११७. त्वदीया कल्याणकामना ४४
११८. उपदेशस्य गाम्भीर्यम् ४४
११९. परिणामना ४४
१२०. आर्यावलोकितेश्वरवदाचरणीयम् ४५
१२१. आर्यामिताभवदप्याचरणीयम् ४५
१२२. जगद्धिताय चारिका करणीया ४६
१२३. प्राणिनो निर्भयान् कृत्वा निर्वाण प्रापणीयम् ४६
१२४. निगमनम् ४६–४७

★ नमः कुमारभूताय मञ्जुश्रियै ★

आर्यनागार्जुनपादैः प्रणीतः

सुहृल्लेखः

१. रचनायाः प्रयोजनम् (रचना का प्रयोजन)

१. गुणस्वभावाः कुशला योग्याः! सुगतदेशिताः।
उपदेशा विनिर्दिष्टा इष्टाः पुण्याभिकाँक्षया॥

२. भवदर्थं कृताः काश्चिद् पद्यानां रचना मया।
श्रोतव्यास्ताः समुचिता भवद्भिः साधुबुद्धिभिः॥

हे सद्गुणस्वभाव वाले, कुशल, योग्य प्रशासक राजन्! भगवान् बुद्ध के उपदेशों में कथित पुण्य-प्राप्ति की आकांक्षा से, मैंने तुम्हारे हित में कुछ कुशलधर्मबोधक पद्यों (गाथाओं) की रचना की है, उन्हे सुनना तुम्हारे जैसे कुशाग्रबुद्धि के लिये सर्वथा हितकर ही होगा॥ १-२॥

२. अत्र श्रद्धा विधेया (इसमें श्रद्धा आवश्यक है)

३. सौगती प्रतिमा काचिद् यथा दारुविनिर्मिता।
विज्ञैः सम्पूज्यते, तद्वन्ममैताः कविता हृदा॥

४. तुच्छा रूक्षाश्च सत्योऽपि नावहेयाः कदाचन।
यतश्चैताः शुभाः धर्मचर्चामात्रावलम्बिताः॥

जैसे अच्छे-बुरे किसी भी काष्ठ-पाषाणादि से निर्मित तथागत की प्रतिमा (मूर्त्ति) सभी सज्जनों के लिये पूज्य एवं अभ्यर्हणीय ही होती है, उसी प्रकार मेरी ये गाथाएँ, मेरे जैसे अकिञ्चन द्वारा रचित होने के कारण तुच्छ होने पर भी, कथमपि तिरस्करणीय या अनभिनन्दनीय नहीं कही जा सकतीं; क्योंकि ये सभी आदि से अन्त तक सद्धर्म (बुद्धोक्त उपदेशों) की चर्चा पर ही आधृत हैं। अतः इन पर तुम्हें श्रद्धापूर्वक आचरण करना चाहिये॥ ३-४॥

३. रचनायां प्रामाण्यम् (रचना में प्रमाण)

५. अस्ति प्रामाण्यमेतासां नानावाक्यैर्महामुनेः ।
माधुर्यपूर्णसन्दर्भे एताः सन्त्यमृतोपमाः ॥

६. सुधालिप्ते सिते क्लृप्ते प्रासादे निर्मितेऽप्यथ ।
चन्द्रज्योत्स्नाञ्चिते भूयस्तदौज्ज्वल्यं विभाव्यते ॥

यद्यपि महामुनि बुद्ध के अमृतमय सदुपदेशों से आप भलीभाँति परिचित हैं, तो भी क्या सुधा (चूना) से पुता हुआ कोई धवल (श्वेत) प्रासाद (महल), चन्द्रमा की किरणें पड़ने पर अधिक मनोरम नहीं हो जाता ! ॥ ५-६ ॥

४. बुद्धोपदिष्टाः षडनुस्मृतयः (बुद्धोक्त छह अनुस्मृतियाँ)

७. या हि बुद्धेन सन्दृब्धाः षडनुस्मृतयः शुभाः ।
बुद्धो धर्मश्च सङ्घश्च दानं शीलं च पञ्चकम् ॥

८. देवतानुस्मृतिः षष्ठी, पुण्यानुस्मृतयः इमाः ।
सश्रद्धमनुस्मर्तव्याः, सगुणौघमहर्निशम् ॥

भगवान् बुद्ध ने अपने प्रवचनों में--१. बुद्धानुस्मृति, २. धर्मानुस्मृति, ३. सङ्घानुस्मृति, ४. दानानुस्मृति, ५. शीलानुस्मृति एवं ६. देवतानुस्मृति—इन छह शुभ एवं पुण्यमय अनुस्मृतियों का स्थान-स्थान पर उपदेश किया है। उन सर्वगुणसम्पन्न अनुस्मृतियों पर तुम्हें श्रद्धा एवं पूर्ण विश्वास के साथ अहर्निश (दिन-रात) आचरण करना चाहिये ॥ ७-८ ॥

५. दशकुशलकर्मसेवनम् (दश कुशल कर्मों का अभ्यास)

९. कायेन मनसा वाचा, भवद्भिः प्रत्यहं सदा ।
संसेव्यं कुशलं कर्म दशसङ्ख्याकमुज्ज्वलम् ॥

१०. सुरा-मैरेय-मद्यादि मादकद्रव्यवर्जनम् ।
सम्यगाजीवमार्गेण जीवनं यापयेत् सुधीः ॥

आप जैसे सज्जनों को अपने काय, वाक् और चित्त से अनवरत बुद्धोक्त दश कुशलकर्मपथों का आचरण, सेवन तथा अभ्यास करना चाहिये। सुरा, मैरेय, मद्य आदि मादक पदार्थों के सेवन से निरन्तर दूर रहना चाहिये।

और बुद्धोक्त सम्यगाजीविकाओं से ही आपको अपनी जीवनयात्रा चलाना चाहिये ॥ ९-१० ॥

६. दानपारमिता (दानपारमिता)

११. चलान् भोगविलासाँश्च ज्ञात्वा भिक्षून् द्विजाँस्तथा।
दीनाँश्च सुहृदो नित्यं श्रयतां दानमानतः ॥
१२. यतो दानातिगं किञ्चित् नास्ति वस्तु भुवि क्वचित् ।
परलोके परो बन्धुर्यथार्थ्येन महीयते ॥

आप सांसारिक भोगविलासों (विषय-सुखों) को चञ्चल (क्षणमात्र स्थायी) एवं निःसार (तुच्छ, निस्तत्त्व) जान कर (उनमें आसक्त न होते हुए), भिक्षुओं, ब्राह्मणों एवं दीन-हीनों को अपना मित्रवत् मानते हुए उनको अभिलषित वस्तुएँ अधिक से अधिक दान करते रहें और उनका सभी तरह से निरन्तर सम्मान करते रहें। क्योंकि संसार में दान से बढ़कर दूसरा कोई भी पुण्यमय कार्य नहीं है। और परलोक में भी इससे अच्छा कोई दूसरा सहायक (=बन्धु) नहीं है ॥ ११-१२ ॥

७. शीलपारमिता (शीलपारमिता)

१३. भवान् शीलच्युतो नास्ति यद्यप्येतद् यथार्थकम् ।
अदुष्टामिश्रितं शीलं तथापि परिपालयेत् ॥
१४. बुद्धोक्तमिदमत्यर्थं सर्वाधारा धरा यथा ।
तथा शीलं गुणानां तत् सर्वाधारतया मतम् ॥

यद्यपि मैं जानता हूँ कि आप साधारणतः शील (सदाचार) से कथमपि च्युत नहीं हैं, तो भी मैं चाहता हूं कि आप ऐसे शील के पालन में निरन्तर सचेष्ट रहें जो पापकर्मों से अदूषित एवं सांसारिक स्वार्थमय व्यवहारों से अमिश्रित हो; क्योंकि भगवान् (बुद्ध) ने निर्वाणाभिलाषुक साधुजनों को बार बार यही समझाया है कि जैसे इस समग्र चर-अचर जगत् की आधार पृथ्वी है, उसी तरह साधक के लिये, एकमात्र शील ही सब गुणों का आधार (=आश्रय, शरणस्थल) है ॥ १३-१४ ॥

८. षट् पारमिताः (छह पारमिताएँ)

१५. दानं शीलमथ क्षान्तिर्वीर्यं ध्यानं तथा भवान् ।
प्रज्ञापारमितां वीक्ष्य जिनवल्लोकमुत्तरेत् ॥

भगवान् बुद्ध द्वारा उपदिष्ट १. दानपारमिता, २. शीलपारमिता, ३. क्षान्तिपारमिता, ४. वीर्यपारमिता ५. ध्यानपारमिता तथा ६. प्रज्ञा-पारमिता—इन छह पारमिताओं को पूर्णता तक पहुँचाने के लिये निरन्तर चेष्टा करते हुए निर्वाणाभिमुख हो, एक दिन बुद्ध बनकर आप इस भवसागर को पार कर जाँय—यही मेरा हार्दिक अभिलाष है ॥ १५ ॥

९. मातृ-पितृपूजा (माता-पिता की सेवा)

१६. यस्मिन् कुले सदा माता पिता सम्पूज्यते मुदा ।
तत्कुलं वर्धते ब्रह्माऽऽचार्यादीनां शुभाशिषा ॥
१७. तयोः सम्पूजनात् तस्य यशो वितनुते ध्रुवम् ।
तथाऽन्ते स्वर्गसम्प्राप्तिर्भवत्येव न संशयः ॥

जिस (साधक) के कुल में अपने माता-पिता की निरन्तर पूजा की जाती है, सतत सम्मान किया जाता है, उसका वह कुल, उस कुल के ब्रह्मा एवं आचार्यों के शुभाशीर्वचनों से, निरन्तर धन-धान्यादि की सम्पन्नता से वृद्धिङ्गत होता रहता है तथा अन्त में (उसके देहपात के बाद) उसे असन्दिग्धरूप से स्वर्ग-सुख भी प्राप्त होता है ॥ १६-१७ ॥

१०. दश शीलान्यनुपालनीयानि (दश शीलों का पालन)

१८. हिंसां चौर्यं मृषां मिथ्याचारं कालातिभोजनम् ।
मद्यमुच्चतरं तल्पं नाट्यं माल्यादिकं त्यजेत् ॥

आप इन दुर्गुणों के आचरण से सर्वथा दूर रहें; जैसे १. हिंसा (प्राणा-तिपात), २. चोरी, ३. असत्यभाषण, ४. मिथ्याचार (व्यभिचार), ५. विकाल (असमय) भोजन, ६. मद्यपान, ७. ऊँचे-ऊँचे सजे पलङ्गों पर लेटना, ८. नृत्य-गीत-वाद्य आदि में सम्मिलित होना, ९. माला-गन्ध-विलेपन आदि का अत्यधिक उपयोग । इन दुर्गुणों से दूर रहते हुए आपको दश शीलों का आचरण करना चाहिये ॥ १८ ॥

११. शीलानुपालनमाहात्म्यम् (शील-आचरण का माहात्म्य)

१९. स्त्रियश्च पुरुषाश्चापि शीलमार्हतमाश्रिताः ।
अष्टाङ्गमार्गसंयुक्ताः सन्तूपोसथसंवृताः ॥

भगवान् द्वारा कहे इन दश शीलों का आचरण करने वाला साधक हो, फिर वह भले ही पुरुष हो या स्त्री, अष्टाङ्ग मार्गों के अनुसार साधनाभ्यास करते हुये उपोसथ व्रत का अधिकारी हो पाता है ॥ १९ ॥

२०. तदा सौम्ये शुभे कामावचराख्ये मनोरमे ।
देवलोके जनिं लब्ध्वा देवतुल्या भवन्ति ते ॥

जो मनुष्य इन अष्टाङ्गों से सम्पन्न हो जाता है, इसके फलस्वरूप उसे शुभ, मङ्गलमय एवं रमणीय कामावचर देवयोनि प्राप्त होती है। वहाँ उत्पन्न होकर वह देवतुल्य अनुपम स्वर्गसुख का भोग करता है ॥ २० ॥

१२. मात्सर्यादिषु शत्रुभावः (मात्सर्य आदि में शत्रुता)

२१. मात्सर्यं कपटं मायां काममालस्यमुन्मदम् ।
अभिमानं च रागं च द्वेषं मोहं च किल्विषम् ॥

२२. जाति-रूपाभिमानं च ज्ञानगर्वं च यौवनम् ।
प्रभुत्वं सर्वमेवैतच्छत्रुवज्ज्ञायते बुधैः ॥

आप मात्सर्य (-ईर्ष्या, डाह), छल-कपट, माया (-जालसाजी) हठ, आलस्य, अभिमान, राग, द्वेष, मोह, पापकर्म, जाति एवं रूप के अभिमान, अपने में बहुश्रुतत्व ज्ञान के अभिमान, यौवन एवं प्रभुत्व (ऐश्वर्य) के अभिमान को शत्रुवत् समझें ॥ २१-२२ ॥

१३. अप्रमादोऽमृतपदम् (अप्रमाद ही अमृत है)

२३. अप्रमादोऽमृतपदं प्रमादश्च मृतेः पदम् ।
तदेतन्मुनिना प्रोक्तं समेषामुपकारकम् ॥

२४. तस्मात् कुशलधर्मस्य प्रचारार्थमहर्निशम् ।
सादरं सेवनीयोऽयम् अप्रमादो विवेकतः ॥

तथागत का उपदेश है कि ("कुशलकर्मों के आचरण में) अप्रमाद ही अमृत (निर्वाण) का पद (-प्राप्ति का साधन) है, एवं (उनमें) प्रमाद

करना मृत्यु की तरफ ढकेलने वाला होता है"। उनका यह कथन सभी के लिये समानरूप से हितकर एवं सुखावह है। इसलिये आपको कुशलधर्मों के प्रचार-प्रसार हेतु प्रयत्न करना चाहिये। और स्वयं कुशलधर्मों के आचरण का विवेकपूर्वक ससम्मान अभ्यास करना चाहिये ॥ २३-२४ ॥

१४. तस्य माहात्म्यवर्णनम् (उसका माहात्म्य)

२५. आसन् प्रमादिनः पूर्वं ये पश्चादप्रमादिनः ।
मन्तव्याः साधवस्ते हि मेघमुक्तामृतांशुवत् ॥
२६. यथा नन्दोऽङ्गुलीमालः क्षेमदर्शी तथेतरे ।
किञ्चाप्युदयनो नाम तत्र सन्ति निदर्शनम् ॥

जो पहले भले ही प्रमादी रहे हों परन्तु बाद में सदुपदेश के सहारे, कुशलधर्मों का अप्रमादपूर्वक आचरण करने लगे हों वे उसी तरह सुन्दर (सज्जन) लगते हैं जैसे मेघों से मुक्त चन्द्रमा सुन्दर लगता है। इसके उदाहरणस्वरूप आप नन्द, अंगुलिमाल, क्षेमदर्शी (अजातशत्रु) एवं उदयन को समझें। (ये सभी प्रारब्धवश पहले कुशलधर्मों के आचरण में प्रमादी थे, परन्तु बाद में इन सब ने, भगवान् के उपदेश के आलम्बन से, कुशलधर्मों में अप्रमादी बनकर अपना उद्धार कर लिया) ॥ २५-२६ ॥

१५. क्षान्तिपारमिता (क्षान्तिपारमिता)

२७. न क्षान्तेः सदृशं किञ्चित् तपः प्रोक्तमतस्त्वया ।
स्वकोपः परिहर्तव्यो बुद्धवाक्यप्रमाणतः ॥
२८. सुगताभिमतं चैतत्—"कोपत्यागो विशिष्यते ।
तत्त्यागेनैव लोकेऽस्मिन्ननागामित्वमाप्यते" ॥

भगवान् का उपदेश है कि क्षमा (सहनशीलता) के समान कोई तप नहीं है, अतः आप अपने कार्यों से किसी पर क्रोध करने का अवसर ही न आने दें। भगवान् ने स्वयं स्वीकार किया है कि क्रोध के त्याग से ही इस लोक में अनागामित्व पद प्राप्त होता है ॥ २७-२८ ॥

१६. वैरपरित्यागः (वैर का त्याग)

२९. अमुना भर्त्सितोऽनेन ताड़ितोऽहं जितोऽमुना ।
अनेनापहृतं स्वत्वमिति वैरप्रवर्धनम् ॥

३०. ततो वैरं परित्यज्य मिथः प्रेम प्रकाशयेत्।
तेन सौख्याभिवृद्धिः स्याज्जीवनानन्ददायिनी ॥

भगवान् कहते हैं—"'इसने मुझको डाँटा', 'इसने मुझको मारा', 'इसने मुझको परास्त किया', 'इसने मेरा धन छीन लिया'–इस प्रकार वैरचिन्तन से परस्पर कलह बढता है"। परन्तु जब आप उपर्युक्त वैरभाव छोड़कर परस्पर स्नेह प्रकट करेंगे तो उससे आप की सुखसम्पत्ति वृद्धिङ्गत होगी और जीवन आनन्दमय रहेगा ॥ २९-३० ॥

१७. चित्तस्य त्रैविध्यम् (तीन तरह के चित्त)

३१. जले पृथिव्यां पाषाणेऽङ्कितं चित्तमिति त्रिधा।
प्रथमं क्लेशितानां वै क्षालनार्हमथोच्यते ॥
३२. धर्माभिलाषि चित्तं तु पाषाणसदृशं दृढम्।
उभयोश्चरमं प्रोक्तमुत्तमैश्चित्तमुत्तमम् ॥

जल, पृथ्वी और पाषाण पर पड़ी रेखाओं के समान चित्त की गति भी त्रिविध जाननी चाहिये। यहाँ क्लेशितों (दुःखग्रस्तों) का चित्त जल में अङ्कित रेखा के समान समझिये; क्योंकि तभी तो वह सदुपदेशों से धुलेगा या उसमें कोई परिवर्तन हो पायगा। इसके विपरीत, धर्माभिलाषियों के चित्त को पाषाण पर अङ्कित रेखा के समान समझें; क्योंकि उनका किसी निश्चय पर स्थिर रहना ही साधना में सहायक हो सकता है। इन दो प्रकार के चित्तों में अन्तिम (पाषाण-रेखासदृश) चित्त को ही सज्जनों ने उत्तम बताया है ॥ ३१-३२ ॥

१८. प्रवक्तॄणां त्रैविध्यम् (तीन तरह के वक्ता)

३३. बुद्धोक्तिः–"त्रिविधाः सन्ति प्रवक्तारोऽत्र मानवाः।
सत्यवादी, वदेन्मिथ्यावादी चित्तप्रियं वचः" ॥
३४. तेषां साम्यं क्रमेण स्यान्मधु-पुष्प-मलैः सह।
तेष्वेतच्चरमं त्याज्यं द्वयं ग्राह्यं मनीषिणा ॥

भगवान् ने कहा है—"इस संसार में तीन प्रकार के वचन बोलने वाले हैं–१. सत्यवादी, २. मिथ्यावादी एवं ३. मीठी-मीठी बात करने वाले (मुँह

देखी बात करने वाले)। ये क्रमशः मधु, पुष्प एवं मल (विष्ठा) के सदृश है। इनमें अन्तिम (मिथ्यावादी) तो मल (विष्ठा) की तरह त्याज्य है। हाँ लोकव्यवहार चलाने के लिये अवशिष्ट दो का प्रयोग मनीषी को यदा-कदा कर लेना चाहिये ॥ ३३-३४ ॥

१६. चत्वारः पुद्गलाः (चार पुद्गल)

३५. **चत्वारः पुद्गलाः प्रोक्तास्ते प्रकाशात् प्रकाशगाः ।**
तमसोऽथ तमोगाश्च प्रकाशादन्धकारगाः ॥

३६. **तथान्धकारतो भूयः प्रकाशान्तगताः खलु ।**
एतेषु प्रथमे ग्राह्यास्तत्सादृश्यं समाचरेत् ॥

सौगतदर्शन में चार प्रकार के पुद्गल (मनुष्य) बताये गये हैं; जैसे- १. प्रकाश से प्रकाश की तरफ जाने वाले, २. अन्धकार से अन्धकार की तरफ जाने वाले, ३. प्रकाश से अन्धकार की तरफ जाने वाले, एवं ४. अन्धकार से प्रकाश की तरफ जाने वाले। इनमें प्रथम कोटि के पुद्गल श्रेष्ठ बताये गये हैं। इस प्रथम कोटि के पुद्गलों में (आप के आचरण से) आप की गणना हो—ऐसी मेरी हार्दिक इच्छा है ॥ ३५-३६ ॥

२०. तत्रास्त्याम्रफलोपमा (आम्रफल का दृष्टान्त)

३७. **नरा आम्रफलप्राया अपक्वाः पक्वताङ्कताः ।**
पक्वाश्चापक्ववद् भान्ति पक्वाः पक्ववदेव च ॥

इसी बात को आप आम्रफल के उदाहरण से यों समझें--१. कोई आम्रफल पका हुआ पके हुए की तरह ही दीखता है, २. कोई न पका हुआ विना पका हुआ ही दीखता है; ३. परन्तु कोई पका हुआ भी न पके हुए की तरह दीखता है, तथा ४. कोई न पका हुआ पके हुए की तरह दीखता है। इसी तरह, उपर्युक्त पुद्गल-कोटियों को भी समझें ॥ ३७ ॥

२१. परस्त्रीदर्शनं हेयम् (परस्त्री-दर्शन का निषेध)

३८. **परस्त्रीदर्शनं हेयं यदि स्याद् दर्शनं तदा ।**
अवस्थाभेदतः कुर्यान्मातृ-पुत्र्यादिभावनाम् ॥

३९. कामासक्तो भवेच्चेत्तन्मलन्मूत्र-पुरीषभृत् ।
शरीरं भावयेत् तस्यास्तेन शान्तिमवाप्नुयात् ।।

दूसरों की स्त्रियों को कभी नहीं देखना चाहिये। यदि किसी कारणवश उनपर आप का दृष्टिपात हो ही जाय तो उस समय आपको उनकी अवस्था (आयु) के भेद से उनमें माता, बहन, या पुत्री की भावना करनी चाहिये। अर्थात् ये मेरी माँ, बहन या पुत्री हैं–ऐसा मानना चाहिये। किसी भी स्त्री को कामासक्त होकर तो देखना ही नहीं चाहिये। यदि कभी कहीं ऐसी आसक्ति हो ही जाय तो उस समय उस नारी-पिण्ड को मल-मूत्र आदि अशुचि (गन्दे) पदार्थों से भरा हुआ समझ कर उसके प्रति अपनी घृणा प्रकट करनी चाहिये। नारी-शरीर में इस प्रकार की अशुचि-भावना का का अभ्यास करने से साधक की वहाँ कामासक्ति-भावना विनष्ट हो जाती है। इस भावना के निवृत्त होने से ही साधक शाश्वत शान्ति की ओर अग्रसर हो सकता है।। ३८-३९ ।।

२२. कर्तव्यश्चित्तनिग्रहः (चित्त का दमन आवश्यक)

४०. यशः-पुत्र-निधि-प्राणसमानं चञ्चलं मनः।
रक्षणीयं सदा येन सुस्थिरं तन्नियम्यते ।।

४१. सर्पवद् विषवच्छस्त्र-शत्रुवच्चाग्निवद् भृशम् ।
त्यजेत् कामसुखं शश्वद् विरक्तश्च ततो भवेत् ।।

आप को अपने चञ्चल मन की (पापमय कर्मों से) उसी प्रकार सावधानीपूर्वक रक्षा करनी चाहिये जैसे आप अपने यश, पुत्र, धन-धान्य, एवं प्राणों की निरन्तर सावधान रहते हुए रक्षा करते हैं। तभी वह स्थिर (शुभ कर्मों में प्रवृत्त) हो सकता है। ऐसी स्थिति में उस पर नियन्त्रण रखने में आपको सरलता होगी। आप सांसारिक कामभोगों (विषयसुखों) से डरते हुए उनसे उसी तरह दूर रहने का सतत प्रयास करें जैसे आप, संकट आने पर, सर्प से, विषप्रयोग से, शस्त्रप्रहार से, शत्रु के आक्रमण से, अग्नि की ज्वालाओं से अपनी रक्षा सावधानतया करते रहते हैं। आपको इन कामसुखों से विरत रहने का सतत अभ्यास करना चाहिये, तभी आप शान्ति की ओर अग्रसर हो सकेंगे ।। ४०-४१ ।।

२३. प्रहेया भववासनाः (भववासनाएँ त्याज्य)

४२. इच्छाः क्षतिप्रदाः सन्ति किम्पाकफलवच्च ताः ।
जिनेन्द्रोक्ताः परित्याज्या यतश्चैता असीमिताः ॥
४३. लौहशृङ्खलया ह्यासां लोक एव समन्ततः ।
गृहे सांसारिके बद्धो वर्तते बन्धनात्मके ॥

"वासनाएँ (इच्छाएँ) किम्पाक (कारस्कर) वृक्ष के फल की तरह मनुष्य को हानि ही पहुँचाती हैं"—ऐसा भगवान् ने कहा है। फिर उनका यह भी आदेश है कि इनका सर्वथा परित्याग ही उचित है; क्योंकि इनकी कोई सीमा (अन्त) नहीं है, अतः ये कभी सर्वथा पूर्ण नहीं हो सकतीं। इन भववासनारूपी लोह-शृङ्खलाओं यह मनुष्य सांसारिक बन्धनों में दृढ़तया आबद्ध है। इन बन्धनों से छुटकारा पाने के लिये वासना-त्याग अत्यावश्यक है ॥ ४२-४३ ॥

२४. योगयुक्तस्य प्राशस्त्यम् (योगी की प्रशंसा)

४४. विषयेष्वनुलिप्तानि चञ्चलान्यस्थिराणि च ।
इन्द्रियाणि पराजित्य येन तद्दमनं कृतम् ॥
४५. तथा येन रणे शत्रुगणो वा विजितस्तयोः ।
विज्ञैः सम्मन्यते वीरः पूर्व एव महत्तरः ॥

१. जिस साधक ने विषय-भोगों में लिपटी अपनी चञ्चल अतएव अस्थिर इन्द्रियों को पापमार्ग में प्रवृत्त होने से बचाने के लिये उनका पूर्णतः दमन कर लिया है, या २. जिसने, घनघोर युद्ध में, अपने शत्रुसमूह को सर्वथा पराजित कर दिया है—इन दोनों में, विद्वानों ने, प्रथम (इन्द्रिय-दमक) को ही अपेक्षाकृत महान् बताया है ॥ ४४-४५ ॥

२५. सत्कायदृष्टिगर्हणम् (सत्काय दृष्टि की निन्दा)

४६. सम्यग्ज्ञानेन सन्दृष्टे युवत्या दूषितं वपुः ।
पूतिगन्धयुतं पात्रमिवानहं घृणास्पदम् ॥
४७. युक्तं नवमलद्वारैरलङ्कारैरलङ्कृतम् ।
सदप्येतत् परं चर्मासृगस्थिच्छादितं किल ॥

बुद्धोपदिष्ट सम्यग्ज्ञान के सहारे समीक्षा करने पर, इन युवति कामिनियों का शरीर सर्वथा दूषित, दुर्गन्धमय, मैले पात्र के समान घृणास्पद नौ मलद्वारों से युक्त है। यह बाहर से नानाविध अलङ्कारों से भूषित करने पर भी अन्दर तो अस्थि, रक्त, मांस एवं वसा से भरा हुआ केवल ऊपर गौर चर्म से आवृत दीखता है ॥ ४६-४७ ॥

२६. कामतृष्णापरित्यागः (कामतृष्णा का त्याग)

४८. यथा कीटपरीताङ्गः कुष्ठी कण्डूविनोदने ।
वह्निं संसेवमानोऽपि न शान्तिमधिगच्छति[1] ॥
४९. तथा कामेच्छया युक्तः कामान्नित्यं विचिन्तयन् ।
न परां शान्तिमाप्नोति कामतृष्णा भृशायते ॥

जिस प्रकार अपने व्रणों में कुल-बुलाते कीड़ों से पीड़ित कुष्ठरोगी व्रणों में हो रही असह्य खुजली को शान्त करने के लिये अग्नि-ताप का सेवन करने पर भी आराम (सुख, चैन) नहीं ले पाता, उसी प्रकार कामवासनाओं से युक्त पुरुष कामभोगों का ही निरन्तर चिन्तन करता हुआ कहीं भी सुख-शान्ति नहीं पा सकता। अपितु इसके कारण उसकी वह वासना (कामतृष्णा, भोगैषणा) और अधिक बढती जाती है ॥ ४८-४९ ॥

२७. योनिशो मनस्कारः (मनोयोगपूर्वक समीक्षा करना)

५०. परमार्थदर्शनार्थं वस्तूनां सदनुस्मृतिः ।
मनसि प्रविधातव्या तदभ्यासं प्रकुर्वता ॥
५१. तादृशो गुणयुक्तोऽन्यो न धर्मः कश्चिदुन्नत ।
वस्तुतत्त्वपरिज्ञानात् परमार्थः प्रकाशते ॥

आपको परमार्थ-दर्शनहेतु, निरन्तर साधना (अभ्यास) करते हुए वस्तुओं (पदार्थों) के विषय में (उनकी वास्तविकता जानने के लिये) योनिशः (सूक्ष्मतया) मनस्कार (विचार) करना चाहिये। इसके सदृश कोई अन्य धर्म गुणयुक्त नहीं है ॥ ५०-५१ ॥

२८. (क) प्रज्ञा-शीलविहीनो न सत्करणीयः (प्रज्ञा-शीलविहीन का सत्कार नहीं)

५२. कुलीनो बा सुरूपो वा मनुष्यो वा बहुश्रुतः ।
प्रज्ञा-शीलप्रहीणश्चेन्न सम्मानमिहार्हति ॥

कोई मनुष्य भले ही कितना भी उच्चकुलीन या रूपवान् क्यों न हो, यदि वह प्रज्ञा (सम्यग्ज्ञान) और शील (सदाचार) से विहीन है तो वह इस संसार (के विद्वानों) में कोई विशेष सम्मान नहीं पा सकता ॥ ५२ ॥

(ख) पूजार्हः शीलसम्पन्नः (शीलसम्पन्न पूजनीय)

५३. परं यः शीलसम्पन्नः प्रज्ञायां परिनिष्ठितः।
अन्यैर्गुणैर्विहीनोऽपि लोकेऽस्मिन् पूज्यते सदा ॥

परन्तु हाँ ! (इसके विपरीत) जो शीलसम्पन्न है और प्रज्ञा में परिनिष्ठित है, वह भले ही अन्य सांसारिक गुणों से हीन हो तो भी, इस लोक में उसका सर्वत्र सम्मान ही होता है ॥ ५३ ॥

२९. लोकधर्मान् परित्यज्य समदर्शी भवेद् (लोकधर्मों का प्रहाण)

५४. लोकज्ञ ! येऽष्ट लोकाख्या धर्माः ख्याता महीतले।
लाभोऽलाभः सुखं दुखं यशो निन्दाऽयशस्तथा ॥

५५. प्रशंसा चेति नैवेते विचारविषयास्तव।
तस्मात् सर्वं परित्यज्य समदर्शित्वमाप्नुयाः ॥

हे लोकव्यवहारनिपुण ! १. लाभ (प्राप्ति), २. अलाभ (हानि), ३. सुख, ४. दुःख, ५. यश (कीर्ति), ६. निन्दा, ७. अयश (अपकीर्ति), एवं ८. प्रशंसा—ये आठों ही लोकधर्म अब आपके (अपने) लिये विचारणीय विषय नहीं रह गये हैं। अतः आप अपने विषय में इन आठों की उपेक्षा करते हुए उनके प्रति सम भाव रखने का ही अभ्यास करें ॥ ५४-५५ ॥

३०. विप्रादीनां हितायापि पापमकरणीयम् (सत्कार्य के लिये भी पाप अकरणीय)

५६. विप्र-भिक्षु-सुर-स्वामि-जननी-जनक-स्त्रियाम्।
प्रजानामपि लाभार्थं न भवान् पापमाचरेत् ॥

राजन् ! आपके सामने प्रसङ्गवश भिक्षु, ब्राह्मण, देवता, स्वामी, माता-पिता, यहाँ तक कि स्त्री या पुत्र के लिये भी कोई पापकर्म करने की विवशता आ पड़े तो भी आपको उससे विरत ही रहना चाहिये ॥ ५६ ॥

पुण्यपथगामिता (पुण्यकर्म की करणीयता)

५७. नारकीयविपाकस्य भागं कश्चित् क्वचित् खलु ।
यतो हि नैव गृह्णीयात् तस्मात् पुण्यपथं व्रजेत् ॥

क्योंकि उस पाप-कर्म के फल (विपाक) का हिस्सा बटाने वाला इनमें से कोई भी नहीं होगा । अत: आप पापपथ का सर्वथा परित्याग कर पुण्यपथ के राही बनें ॥ ५७ ॥

३१. पापकर्मविपाकः (पाप कर्म का फल)

५८. ये पापं कर्म कुर्वाणास्तत्कालं तत्फलं न ते ।
भुञ्जते नापि दण्डार्हाः समकालं भवन्त्यपि ॥

५९. मृत्युकाले समायाते सर्वं कर्मफलं तदा ।
समुद्भूतं पुरः साक्षात् स्मारयत्येव दुष्कृतम् ॥

यद्यपि कभी कभी ऐसा भी होता है कि पापकर्मा मनुष्य कुछ काल तक अपने किये का फल नहीं पाता; न उसे राजा शस्त्र आदि से कटवाता है, न किसी अन्य से कोई दण्ड उस पापकर्म के लिये मिलता है । तो भी, उसका मृत्यु-काल आने पर, पूर्वकृत पापकर्म उसके सन्मुख आकर उसे उसका पूर्वकृत दुष्कर्म स्मरण करा ही देते हैं ॥ ५८-५९ ॥

३२. आर्यधनानि सप्त (सात आर्यधन)

६०. मुनिनाऽभिहितम्—श्रद्धा शीलं त्यागः श्रुतं त्रपा ।
प्रज्ञाऽथ, विनयश्चैते सप्तार्याणां धनं महत् ॥

६१. अन्यत् साधारणं यद्वा धनं तन्नैव तादृशम् ।
तदेतत् परिहर्तव्यं व्यर्थं ज्ञात्वा नु धीमता ॥

भगवान् ने स्वमुखारविन्द से कभी यह उपदेश किया था—"इस संसार में इन सात गुणों की प्राप्ति ही श्रेष्ठ धन है, जैसे—१. पूज्यों के प्रति श्रद्धा, २. शील (सदाचार), ३. त्याग (दान), ४. श्रुत (गुरूपदेश), ५. पाप-कर्म में लज्जा, ६. प्रज्ञा, एवं ७. विनय (स्वधर्म का आचरण) । इनके अतिरिक्त लौकिक धन तो साधारण है । वे इनकी तुलना (बराबरी) नहीं

कर सकते"। बुद्धिमान् पुरुष को इन साधारण धनों को तुच्छ समझते हुए इनके अर्जन की इच्छा का त्याग ही करना चाहिये ॥ ६०-६१ ॥

३३. षड् दुर्गतयस्त्याज्याः (त्यागने योग्य छह दुर्गतियाँ)

६२. दयूतं सामाजिकी क्रीडाऽऽलस्यं विविधमेव च ।
मैत्री दुष्टैः समं मद्यं रात्रौ पर्यटनं तथा ॥

६३. षडेतानि यशोनामनाशकानि विवर्जयेत् ।
दुर्गतेर्हेतुभूतानि सन्त्येतानि सुनिश्चितम् ॥

राजन् ! अपनी उन्नति चाहने वाले पुरुष को इन छह दुर्गतिकारक कुकर्मों को दूर से ही त्याग देना चाहिये—१. द्यूतक्रीड़ा (जूआ खेलना), सामाजिक उत्सव (जिनमें नृत्य, गीत, वाद्य का प्रयोग होता हो), ३. आलस्य, ४. पापियों (दुष्टों) के साथ मित्रता, ५. मद्यपान एवं ६. रात्रि में अकेले घूमना। क्योंकि ये छहों कुकर्म स्वकीय कुल की कीर्ति एवं स्वयं की प्रख्याति के निश्चित रूप से घातक हैं ॥ ६२-६३ ॥

३४. सन्तोषः परमं धनम् (सन्तोष ही श्रेष्ठ धन है)

६४. देवानां मानवानां च शास्ता निर्दिष्टवानिदम् ।
सन्तोषो धनमुत्कृष्टं सदा सन्तोषमाश्रयेत् ॥

६५. सन्तोषश्चेद् विधेयः स्यात्, तदा बाह्यधनेन किम् ।
वास्तवं धनमासाद्य सत्यं हि धनवान् भवान् ॥

शास्ता (भगवान् बुद्ध) ने देवता और मनुष्य—दोनों के लिये समान रूप से निर्देश किया है कि सबके लिये सन्तोष ही सर्वश्रेष्ठ धन है। अतः चित्त में सन्तोष वृत्ति का ही सर्वथा आश्रयण करना चाहिये। यदि किसी के पास सन्तोष धन है तो उसे संसार के अन्य तुच्छ धनों की क्या आवश्यकता रह जायगी ! यदि आप सन्तोषी हैं तो निश्चित ही आप सर्वश्रेष्ठ धनवान् हैं ॥ ६४-६५ ॥

३५. धनाधिक्येन दुःखम् (धन की अधिकता से दुःख)

६६. आर्य ! कस्यचनाधिक्ये धनस्यापि ततोऽधिकम् ।
दुःखमासाद्यते यद्वन्न तथाल्पाभिलाषिणाम् ॥

आर्य ! लोक में देखा जाता है कि यहाँ अधिक धनवान् ही अधिक दुःखी हैं। जबकि (इसके विपरीत) सन्तोषी पुरुष निरन्तर सुखशान्तिमय जीवन ही जीते देखे जाते हैं ॥ ६६ ॥

तत्र निदर्शनम् (दृष्टान्त)

६७, नागराजस्य यावत्यः फणास्ताभिरनेकशः।
तावदेव परं दुःखं तद्धारात् तेन भुज्यते ॥

उदाहरण के रूप में आप देखें—नागराज के पास हजार फण हैं तो उनके असीम भार का दुःख भी उसे ही ढोना पड़ता है। यही बात धन के विषय में भी समझिये ॥ ६६-६७ ॥

३६. त्रिविधाः पत्न्यस्त्याज्याः (परिहरणीय त्रिविध पत्नियाँ)

६८. स्वभावतः शत्रुभावं दधाना स्वपतिं प्रति।
तद्विघातं च कुर्वाणा, तिरस्कारपरायणा ॥
६९. स्वामिनीव विलुण्ठन्ती धनं पत्युः प्रतीपगा।
त्रिविधाः खल्विमाः पत्न्यः परित्याज्या विशेषतः ॥

राजन् ! ये तीन प्रकार की पत्नियाँ सर्वथा त्याज्य हैं—१. जो अपने पति के प्रति स्वाभाविक शत्रुभाव रखे (पतिघातिनी); २. जो अपने पति का तिरस्कार करती हुई उसकी निरन्तर मृत्यु मनाती रहे (दुष्ट स्वामिनी); या ३. जो अपने पति के प्रति निरन्तर विरुद्ध व्यवहार करती हुई उसके धन के अपहरण हेतु नित्य नये प्रयास करती रहती हो (लुटेरी) ॥ ६८-६९ ॥

३७. सत्कार्यास्त्रिविधाः पत्न्यः (त्रिविध पत्नियाँ पूजनीय)

७०. भगिनीव च सद्भावा सखीवात्मानुरञ्जिका।
मातेव हितमिच्छन्ती दासीवाज्ञाविधायिनी ॥
७१. एतादृश्यः स्त्रियश्चेत् स्युः पतिचित्तानुगा सदा।
सत्कार्या नितरामेता गृहिण्यः कुलदेवताः ॥

परन्तु १. जो बहन की तरह पति के प्रति सतत सद्व्यवहार करती हो, २. सखी की तरह चित्त को भली लगने वाली बातों से पति को बराबर सन्तुष्ट करती हो, ३. दासी की तरह पति की निरन्तर आज्ञा का पालन करती हो; और ४. माता की तरह स्वपति का निरन्तर हित चाहने वाली

हो—ऐसी स्त्रियाँ घर में अधिक से अधिक सम्मान की अधिकारिणी हैं। इतना ही क्यों ? ऐसी स्त्रियों की तो कुलदेवता की तरह पूजा करनी चाहिये ! ॥ ७०-७१ ॥

३८. भोजनं शरीरस्थितिमात्रार्थम् (शरीर-रक्षामात्र के लिये भोजन)

७२. न द्वेषाय न रागाय न मदाय बलाय च ।
न सौन्दर्याय संसेव्यः सदाऽऽहारो मनीषिणा ॥
७३. शरीरस्थितिमात्रार्थं भोजनं भेषजोपमम् ।
सेवनीयं सदा स्वास्थ्यं रक्षितुं नैव भक्षितुम् ॥

राजन् ! भगवान् ने आदेश किया है कि प्रज्ञावान् साधक को न राग, न द्वेष, न मद, न बल, न सुन्दरता बढ़ाने के लिये ही आहार का अतिमात्रा में सेवन करना चाहिये; अपि तु उसका सेवन तो भेषज की तरह स्वल्पमात्रा में इतना ही करना चाहिये कि जिससे शरीर की स्थिति बनी रहे एवं स्वास्थ्यसाधना में वह सहायक बना रहे ॥ ७२-७३ ॥

३९. क्षेमङ्करः स्वल्पस्वापः (अल्प निद्रा हितकर)

७४. दिनं यावदथो रात्रौ यामान्तं च मुहुर्मुहुः ।
शयितव्यमशेषेण धर्ममाचरता सता ॥
७५. जागरे शयने नित्यं कुर्वता सुकृतस्मृतिम् ।
असाफल्यपथं हित्वा साफल्यं समवाप्यते ॥

साधक को दिन और रात्रि में निरन्तर धर्म का आचरण एवं स्वकृत कर्म का अनुस्मरण करते हुए केवल एक प्रहर ही सोना चाहिये । इस तरह अपने किये सुकृत-दुष्कृतों का बराबर स्मरण रखने से साधना में सफलता मिलेगी । ऐसी सावधानी रखने के बाद असफलता की बात कहाँ ! ॥७४-७५॥

४०. चत्वारो ब्रह्मविहाराः

७६. मैत्री-कारुण्य-मुदितोपेक्षाणां भावना सदा ।
विधेया भवता सम्यगूर्ध्वभूमेरवाप्तये ॥
७७. यदि नासादयते तादृक्पदं तद् भवता ध्रुवम् ।
ब्रह्मलोकसुखं नूनं प्राप्तव्यं शान्तिमिच्छता ॥

राजन् ! यदि आपको साधना की उच्चतम अवस्था को प्राप्त करना है तो आप भगवदुक्त चारों ब्रह्मविहारों—मैत्री, करुणा, मुदिता एवं उपेक्षा का निरन्तर विश्वास के साथ सम्यग् अभ्यास कीजिये। इससे एक न एक दिन आप परम शान्ति (निर्वाण) को अवश्य प्राप्त कर लेंगे। यदि किसी (विघ्नकारक) कारणवश आप वहाँ तक इस जन्म में न भी पहुँच पाये तो भी ब्रह्मलोकवास सुख आपको अवश्य प्राप्त होकर रहेगा ॥७६-७७॥

४०. चत्वारि ध्यानानि (चार ध्यान)

७८. कामं विचारं प्रीतिं च सुखं दुःखं समन्ततः।
चतुर्भिर्नियतैर्ध्यानैः परित्यज्य भवाँस्ततः॥

४१. तेषां माहात्म्यम् (उनकी महिमा)

७९. ब्राह्ममाभास्वरं किञ्च शुभकृत्स्नं बृहत्फलम्।
समासाद्य सुराणां च सहभागित्वमाप्नुयात्॥

राजन् ! आप चार ध्यानों के सहारे से (क्रमशः) काम, विचार, प्रीति, सुख-दुःख का परित्याग कर ब्रह्मा, आभास्वर, शुभकृत्स्न एवं वृहत्फल आदि देवों के सहयोगी बन सकेंगे ॥ ७८-७९ ॥

४२. प्रयत्नं कुशलाचारे (कुशल आचरण का प्रयत्न करना चाहिये)

८०. नित्यत्वमभिलाषित्वं प्रतिपक्षविहीनता।
गणप्राधान्यमेभिश्च पञ्चभिः सूपपादितम्॥

८१. कुशलाकुशलाख्यं च कर्म पञ्चविधं स्मृतम्।
कुशलाचरणं कर्तुं तत्र यत्नं समाचरेत्॥

सभी कुशल-अकुशल कर्म—नित्यता, अभिलाष (रुचि, वासना), प्रतिपक्षहीनता, गुण एवं प्रधानता—इन पाँच कारणों से उत्पादित होते हैं। अतः आपको इनमें से कुशल कर्म ही सम्पन्न करने का अभ्यास एवं प्रयास करना चाहिये ॥ ८०-८१ ॥

४३. तत्र गङ्गाजलनिदर्शनम् (गङ्गाजल का दृष्टान्त)

८२. अल्पांशलवणेनाल्पपयःस्वादो विकार्यते।
परं तेन न गङ्गाया जलौघः सम्प्रदूष्यते॥

८३. तथैवाल्पीयसा स्वेन दुष्कृतेन कृतं महत् ।
कुशलं नाश्यते सर्वम्, समूलं तत् प्रहीयताम् ।।

राजन् ! आप भी यह जानते हैं थोड़ा सा नमक डाल देने से थोड़े जल के स्वाद में विकार आ जाता है, उससे गङ्गा नदी का विस्तृत प्रवाह विकृत नहीं किया जा सकता; उसी तरह आप समझ लें कि स्वकृत अल्प पापमय कर्म से भी आपके समस्त कुशलमूल का नाश हो सकता है ।।

४४. प्रहेयाणि पञ्च नीवरणानि (पाँच नीवरणों का परित्याग)

८४. औद्धत्यमथ कौकृत्यं व्यापादः स्त्यानमृद्धता ।
कामच्छन्दोऽथ सन्देहः पञ्च नीवरणान्यपि ।।
८५. लुण्ठकानि स्मृतान्येतान्यत्र पुण्यधनस्य च ।
संविमृश्य हृदा धीरैः परित्याज्यानि दूरतः ।।

भगवान् ने—औद्धत्य, कौकृत्य, व्यापाद, स्त्यानमृद्ध, कामच्छन्द एवं विचिकित्सा—ये पाँच नीवरण (कुशलमूलप्रतिबन्धक) बताये हैं। इन्हें लुटेरा कहा जाता है; क्योंकि ये साधक का पुण्य-धन लूटने में प्रतिक्षण तत्पर रहते हैं ।। ८४-८५ ।।

४५. धर्माग्रा यत्नेनाभ्यसनीयाः (धर्माग्रों का यत्नपूर्वक अभ्यास)

८६. श्रद्धा वीर्यं स्मृतिः प्रज्ञा समाधिश्चेति पञ्च ते ।
धर्माग्राः कथिता येषां यत्नादभ्यासमाचरेत् ।।
८७. यतश्चैता बलप्रख्या अग्राश्चापि समीरिताः ।
एषामभ्यासतो विज्ञः परं पुण्यमवाप्नुते ।।

(इसके विपरीत) श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि एवं प्रज्ञा—इन पाँच गुणों को बुद्धवचनों में धर्माग्र (धर्माङ्कुर) बताया गया है। अतः प्रयत्नपूर्वक इनके संवर्धन का अभ्यास करना चाहिये। क्योंकि ये धर्म की अभिवृद्धि करने में बलप्रदानहेतु सर्वश्रेष्ठ हैं ।। ८६-८७ ।।

४६. तदभ्यासोपायः (उनके अभ्यास का उपाय)

८८. व्याधिं जरां मृतिं चेष्टवियोगं चाप्रियागमम् ।
कर्म तस्य फलं लोके नूनं स्वीकुरुते जनः ।।

८९. वारम्वारमिदं ध्यात्वा ध्रुवं तत्प्रतिपक्षतः।
अहङ्कारो हृदुद्भूतो जायते नो कदाचन॥

"व्याधि, जरा, मरण, प्रिय (इष्ट) से वियोग, अप्रिय (अनिष्ट) से सम्पर्क, तथा कर्मफल आदि को स्वीकार करना अपरिहार्य है"—यह बार बार मनन करने से इनके प्रतिपक्ष (=विरोधी—स्वास्थ्य, यौवन, जन्म आदि) का अहङ्कार (गर्व) साधक के मन में कभी उत्पन्न नहीं होता॥ ८८ ८९॥

४७. सम्यग्दृष्ट्या निर्वाणम् (सम्यग्दृष्टि से निर्वाणप्राप्ति)

९०. यदि स्वर्गमथो मोक्षं भवान् लब्धुमभीप्सते।
सम्यग्दृष्टेस्तदाऽभ्यासं विदध्यादप्रमादतः॥

यदि आप स्वर्ग या उससे भी आगे बढ़कर मोक्ष प्राप्ति की इच्छा रखते हों तो आपको सावधानतया सम्यग्दृष्टि (कुशल एवं अकुशल कर्मों के ज्ञान) की भावना का अभ्यास करना चाहिये॥ ९०॥

४८. मिथ्यादृष्ट्या दुर्विपाकः (मिथ्यादृष्टि का कुफल)

९१. मिथ्यादृष्टिः सदाचारी भवन्नपि च पुद्गलः।
दुर्विपाकं समाप्नोति सर्वमात्मप्रतीपगम्॥

९२. इदं वेद्यम्-मनुष्योऽयं वस्तुतो जगतीतले।
दुःख्यनित्यो ह्यनात्मा चाशुचिश्चातिशयं यतः॥

राजन्! यह आप भली भाँति समझ लीजिये कि यदि कोई पुद्गल (साधक) सदाचारी होते हुए भी मिथ्यादृष्टि (कुशल को अकुशल एवं अकुशल को कुशल समझता) है तो उसे उस स्वकर्मविपाक से भयंकर दुर्गति भोगनी पड़ेगी; क्योंकि उसकी मिथ्यादृष्टि के कारण उसके सभी कर्म विरुद्ध (पापमय) फल देने वाले ही होंगे। आप यह भी जान लें कि यह मनुष्य-शरीर वास्तव में दुःखग्रस्त, अनित्य, अनात्म एवं अशुचि है॥

४९. चतस्रो विपर्यय-दृष्टयः (चार विपर्यय-दृष्टियाँ)

९३. स स्मृतेरनुपस्थानाद्, अप्रस्थानात् स्मृतेस्तथा।
विपर्यये पतत्यत्र दोषदृष्टिचतुष्टये॥

९४. बुद्धेनोद्घोषितम्—"रूपं नात्मा, नात्मा च रूपभृत् ।
नात्मा रूपे स्थितो नापि रूपमात्मनि वा स्थितम् ॥
९५. एवमेव परे स्कन्धाश्चत्वारोऽपि च रूपवत् ।
शून्या एव स्थिताः सन्ति" बोध्यं तत्त्वमिदं परम् ॥

वह मिथ्यादृष्टि पुद्गल स्मृति के अनुपस्थान एवं अप्रस्थान से चतुर्विध विपर्यय-दृष्टियों से घिर जाता है। हमारे भगवान् का यह उद्घोष (सिद्धान्त-कथन) है कि—"पञ्च स्कन्धों में से न रूप आत्मा है, न आत्मा का कोई रूप है, न आत्मा रूप में स्थित है और न रूप ही आत्मा में स्थित है। इसी तरह आपको अन्य चार वेदनादि स्कन्धों की भी यही स्थिति (शून्यता) समझनी चाहिये।" इस परम तत्त्व को आप अपने हृदय में भली भाँति बैठा लें ॥ ९३-९५ ।

५०. तृष्णाविद्ये जगत्सृष्टौ कारणम् (जगत्सृष्टि में तृष्णा और अविद्या हेतु)

९६. स्कन्धा नो निर्मिताः सन्ति कालेनापि यदृच्छया ।
न प्रकृत्या, स्वभावेन नेश्वरेणाप्यहेतुना ॥
९७. एषामुत्पत्तिरस्त्यत्राविद्यया तृष्णयोदिता ।
एतद् बोध्यमशेषेण तत्प्रहाणेच्छुना सता ॥

ये पञ्चस्कन्ध न किसी स्रष्टा के द्वारा निर्मित हैं न यदृच्छा से, न काल या प्रकृति से। न कोई स्वभाव या ईश्वर ही इनका सर्जक है। और न इन्हें अहेतुक ही कहा जा सकता है। इनकी उत्पत्ति तो तृष्णा और अविद्या से ही समझना चाहिये। यह बात भली भाँति जान या समझ कर साधक को उस तृष्णा-अविद्यायुगल के प्रहाणहेतु सतत प्रयास करना चाहिये ॥ ९६-९७ ॥

५१. त्रीणि संयोजनानि (तीन संयोजन)

९८. शीलव्रतपरामर्शः, स्वशरीरस्य दर्शनम् ।
विपर्ययाख्यदोषेण, विचिकित्सा तथैव च ॥
९९. एषां संयोजनं किं वा त्रयाणामपि देहिनाम् ।
निर्वाणनगरद्वार प्रतिरोधकमुच्यते ॥

१. शीलव्रतपरामर्श, २. स्वशरीर को विपर्यय-दृष्टि से देखना, एवं ३. विचिकित्सा (सन्देह)—ये तीन संयोजन मोक्षनगर (निर्वाण) के द्वारावरोधक हैं ॥ ९८-९९ ॥

५२. ध्येयं सत्यचतुष्टयम् (सत्यचतुष्टय का अभ्यास)

१००. निर्वाणं निर्भरं स्वस्मिन् तस्मै नान्यस्य हेतुता ।
तच्छील-श्रवण-ध्यानैर्ध्येयं सत्यचतुष्टयम् ॥

इस भवजञ्जाल से मुक्ति (निर्वाण) स्वयं पर निर्भर है । इसकी प्राप्ति में किसी दूसरे से सहारा नहीं मिल सकता । उसकी प्राप्ति के लिये तो आपको बुद्धोपदिष्ट चार आर्यसत्यों का आचरण, श्रवण एवं ध्यान (निदिध्यासन) द्वारा एकान्तः सतत अभ्यास करना चाहिये ॥ १०० ॥

५३. तिस्रः शिक्षाः सदाऽभ्यस्याः (तीन शिक्षाएँ)

१०१. अधिशीलमधिप्रज्ञमधिचित्तमिति त्रयम् ।
तस्य शिक्षा सदाऽभ्यस्या यतः सा प्रातिमोक्षिका ॥

१०२. एकपञ्चशता चैकशतं शिक्षा अपि ध्रुवम् ।
अस्मिन्नेव समाविष्टा विशिष्टक्रमपूर्विकाः ॥

इसकी प्राप्ति के लिये आपको उन भगवान् द्वारा उपदिष्ट—१. अधिशील (शीलविषयक), २. अधिप्रज्ञ (प्रज्ञाविषयक), एवं ३. अधिचित्त (चित्त-विषयक)—इन तीन शिक्षाओं का निरन्तर साधना (अभ्यास) करनी चाहिये; क्योंकि **भिक्षुप्रातिमोक्षसूत्र** में विशेष क्रम से वर्णित (बुद्धोपदिष्ट) एक सौ इक्यावन शिक्षापद भी इन्हीं तीन शिक्षाओं में समाविष्ट (अन्तर्भूत) हो सकते हैं ॥ १०१-१०२ ॥

५४. निर्वाणाय मतिस्ते चेद् भाव्या कायगता स्मृतिः (कायगता स्मृति निर्वाण में सहायक)

१०३. तथागतेन भो राजन्नेतत्कायगता स्मृतिः ।
बुद्धत्वावाप्तये नूनं सुगमोऽध्वा प्रकीर्त्तितः ॥

१०४, स्मृतिहीनतया सर्वे धर्मा नश्यन्ति शाश्वताः ।
तस्माद् यत्नेन संरक्ष्या स्मृतिरेषा सनातनी ॥

हे राजन् ! तथागत ने शरीर के अन्तर्गत स्मृति (वास्तविकता जानना) को ही बुद्धत्व-प्राप्ति का सरलतम मार्ग बताया है। अन्यथा, इस स्मृति-हीनता के कारण, साधक के सभी कुशल धर्मों का नाश होना सम्भव है। अतः आपको इस सनातन स्मृति-साधना का सतत अभ्यास करना ही चाहिये ॥ १०३-१०४ ॥

५५. जीवनं वायुवच्चलम् (वायुगतितुल्य चञ्चल जीवन)

१०५. जीवनं वायुवेगोद्यज्जलबुद्बुदवच्चलम् ।
अनित्यं च तथा नैकबाधायुक्तमहर्निशम् ॥
१०६. श्वास-प्रश्वाससंयोगसुप्तस्य मनुजस्य च ।
जागर्तेरवकाशो हा ! भूयो लभ्येत वा न वा ॥

राजन् ! आपका यह मानव-जीवन तो वायु के झकोरों से लहराते जल-बुदबुदों के समान अस्थिर, अनित्य एवं नाना बाधाओं से युक्त है। यहाँ तो श्वास-प्रश्वास लेते हुए सोते प्राणी का पुनः जगने का अवकाश मिलते जाना ही आश्चर्यजनक है ! ॥ १०५-१०६ ॥

५६. भस्मान्तानि शरीराणि (मनुष्य-शरीर अन्त में जल जाता है)

१०७. इदं शरीरं भस्मान्तं शुष्कं वा जीर्णतां गतम् ।
अथातो वाऽशुचिप्रायं निःसारमिति बुध्यताम् ॥
१०८. एवं पूर्णतयाऽपूर्णं नश्वरं गलदङ्गकम् ।
पृथग्भावाश्रयं धर्मपरीतं परिगण्यताम् ॥

यह मानवशरीर अन्त में या तो अग्नि द्वारा जला दिया जाता है, या एकान्त में पड़ा-पड़ा सूख जाता है, या फिर सड़ जाता है। अन्ततो गत्वा यों इसकी अशुचिता एवं तुच्छता (निस्सारता) ही प्रतीत होती है। अतः आप इसे सब तरह से अपूर्ण, नश्वर (विनष्ट होने वाला), सड़ने-गलने वाला, अपने से पृथक् हो जाने वाला धर्म ही समझें ॥ १०७-१०८ ॥

५७. शरीरस्याऽस्य का कथा ! (इस शरीर के विषय में क्या कहें !)

१०९. पृथ्वी मेरुगिरिश्चैव महाब्धिश्चैष देहभृत् ।
सप्तसूर्योदयज्वालोज्ज्वलद्भस्मीकृताकृतिः ॥

११०. नैवावशिष्यते नूनं यदा तद् दुर्बलो जनः ।
कथमेषोऽवशिष्येत वार्ता तद्विषया वृथा ॥

जब ये अन्य विशाल देहधारी जीव, महापृथ्वी, सुमेरुपर्वत या महासागर भी (प्रलयकाल में) सात सूर्यों के उदय होने से--प्रज्वलित होकर भस्ममात्र भी अवशिष्ट नहीं रह जाते तो इस अत्यन्त दुर्बल मनुष्य-शरीर की तो बात ही क्या ! ॥ १०६-११० ॥

५८. कदलीदलनिभं भवे गमनागमनम् (संसार में आवागमन केले के वृक्ष की तरह)

१११. इत्थं सर्वमनित्यं तदनात्माशरणं तथा ।
अनाथं स्थानहीनं च परिहेयं समन्ततः ॥
११२. कदलीसमनिःसारा गमनागमनक्रिया ।
ततो मुक्तो विरक्तश्च भवान् भूयान्नरोत्तम ! ॥

इस प्रकार ये उपर्युक्त सभी पदार्थ अनित्य, अनात्म, अशरण (निरालम्बन, बेसहारा), अनाथ (असहाय) एवं अस्थान (स्थानहीन) हैं। इसलिये हे नरोत्तम ! आप इस भवगति (संसार में गमनागमन) को कदली (केला) वृक्ष की तरह निःसार (निस्तत्त्व) समझते हुए अपने मन में इसके प्रति विरक्ति ही रखें ॥ १११-११२ ॥

५६. कच्छपनिदर्शनेन मानवं जन्म दुर्लभम् (कच्छपदृष्टान्त)

११३. प्लवमानयुगच्छिद्रे समुद्राम्भसि दुस्तरे ।
कच्छपस्य यथा कण्ठप्रवेशो दुष्करस्तथा ॥
११४. तिर्यग्योनेरपेक्षातो मानवं जन्म दुर्लभम् ।
तन्नरेन्द्र ! भवान् कृत्वा सद्धर्मं फलमश्नुताम् ॥

जैसे महासमुद्र में तैरते 'युग' नामक यन्त्र से कछुए की गर्दन बहुत कठिनता से फंसती है, उसी तरह तिर्यग्योनि की अपेक्षा मानव जीवन की प्राप्ति अत्यन्त दुर्लभ है। अतः हे नरेन्द्र ! आप सद्धर्म का आचरण करते हुए पुण्य-फल की प्राप्ति का प्रयास करें ॥ ११३-११४ ॥

६०. तत्रौपम्यम् (मानवजीवन के दुरुपयोग में उपमा)

११५. महार्घं रत्नपात्रं यश्छर्दितेन प्रदूषयेत् ।
तन्मूल्यमनभिज्ञाय स मूढोऽतिशयो मतः ॥
११६. ततोऽप्यतितरां मूढः सोऽस्ति यो मानवं जनुः ।
सम्प्राप्य कुरुते नित्यं पापमाप्तविगर्हितम् ॥

जो मनुष्य अपने किसी बहुमूल्य रत्नमय पात्र को, उसकी उचित उपयोगिता न समझता हुआ, उसमें वमन, थूक आदि गन्दी चीजें भर दे तो उसे संसार में मूर्ख ही समझा जाता है। उससे भी अधिक वह मूर्ख है जो यह दुर्लभ मानव जीवन पाकर भी नित्य-निरन्तर सज्जनों द्वारा निन्दनीय पापकर्म करता रहता है ॥ ११५-११६ ॥

६१. अनुकूलसाधनायां सहायकं महाचक्रचतुष्टयम् (चार महाचक्र)

११७. प्रतिरूपात्मके देशे निवासः सज्जनाश्रयः ।
प्रणिधानं निजं पूर्वं कृतं पुण्यमपि स्वतः ॥
११८. भवन्निष्ठमिदं श्रेष्ठं महाचक्रचतुष्टयम् ।
एतदाश्रित्य कर्तव्यो यत्नो निःश्रेयसप्तये ॥

१. अनुकूल देश में रहना, २. सज्जनों की सङ्गति, ३. चित्तशुद्धि, एवं ४. पूर्वजन्मकृत पुण्य--ये चारों महाचक्र (चक्रभूमि की तरह पुनः पुनः करणीय) आप में स्वतः (अनायास) ही विद्यमान हैं। इनका आलम्बन लेते हुए आपको निर्वाणप्राप्तिहेतु सफल प्रयत्न करना चाहिये ॥ ११७-११८ ॥

६२. कल्यामित्रसङ्गो ब्रह्मचर्यपूरकः (धर्मसाधना में कल्याणमित्र की सहायता)

११९. मुनिनोक्तमिदं तत्त्वम्—कल्याणसुहृदाश्रयः ।
ब्रह्मचर्यव्रतापूर्त्तिस्ततः सत्पुरुषं श्रयेत् ॥
१२०. यतो बुद्धाश्रयेणैव पूर्णा शान्तिरवाप्यते ।
तया निर्वाणसम्प्राप्तिः सर्वदुःखात् प्रमोचनम् ॥

भगवान् बुद्ध का उपदेश है कि सज्जनों की सङ्गति ब्रह्मचर्य (=धर्म-) साधना की पूर्ति में अत्यधिक सहायक होती है। अतः आपको सत्सङ्गति का आलम्बन करना चाहिये। क्योंकि सज्जन (बुद्ध) के सहारे से ही

साधक को पूर्ण शान्ति प्राप्ति होती है। पूर्णशान्ति से निर्वाण प्राप्त होता है। निर्वाण ही सब दुःखों का उपशामक है ॥ ११९-१२० ॥

६३. अष्टावक्षणाः (आठ अक्षण)

१२१. मिथ्यादृष्टिग्रहस्तिर्यग्योनिः प्रेतजनुस्तथा ।
नरकान्तःसमुत्पत्तिरबुद्धानुत्पादपत्तनम् ॥
१२२. दीर्घायुर्देवयोनिश्च म्लेच्छत्वं मूकतेति च ।
एषु जन्मग्रहो ह्यष्टावक्षणाः कथिता इमे ॥

१. मिथ्यादृष्टि का ग्रहण, २. तिर्यग्योनि में जन्म, ३. प्रेतयोनि, ४. नरक में उत्पत्ति, ५. ऐसा देश (स्थान) जहाँ बुद्ध का उत्पाद न हुआ हो, ६. म्लेच्छ (=असभ्य, आचारहीन) देश, ७. मूकता (धर्मोपदेशकों का अभाव), एवं ८. दीर्घायु वाली देवयोनियों में जन्म--ये आठ 'अक्षण' कहलाते हैं। (इन्हें अक्षण इसलिये कहा गया है कि इन आठों स्थानों में पहुँचने पर प्राणी को सद्धर्म-चिन्तन का एक क्षण भी नहीं मिल पाता। कारण कि वह इन योनियों के प्रभाव से अन्य अन्य कार्यों में ही व्यापृत रहता है।) ॥ १२१-१२२ ॥

६४. क्षणसम्पत्त्यै प्रयतनीयम् येन पुनर्भवो न स्यात् (पुनर्भवनिवृत्ति के लिये क्षणसम्पत्ति)

१२३. तद्दोषरहितं प्राप्तं भवता मानवं वपुः ।
तादृशक्षणसम्पत्तिं ततः सम्प्राप्य मोदताम् ॥
१२४. विधातुं कुशलं कर्मावकाशो भवतोऽन्तिके ।
तत् पुनर्जन्मवैमुख्यमवाप्तुं चेष्टतामिह ॥

आपने इन (उपर्युक्त) आठों दोषों से रहित मानव जीवन पाया है, अतः अब आप ऐसी क्षणसम्पत्ति, जिसमें आपको कुशल कर्म करने का पूर्ण अवकाश है, प्राप्त कर इस भवसागर में पतन (पुनर्जन्म) से छुटकारा पाने का पूर्ण प्रयास करें। जिससे आपको निरतिशय आनन्द की स्थायी उपलब्धि हो सके ॥ १२३-१२४ ॥

६५. पुनर्भवे दोषाः (पुनर्जन्म के दोष)

१२५. आर्येष्टवस्तुनोऽप्राप्तिर्मृतिर्व्याधिर्जरादिकम् ।
नानादुःखैकमूलं तद् यद् भवे पुनरागमः ॥

१२६. विरक्तश्च भवानस्माद् भवेदागमनादपि ।
तद्गतं दोषमेकांशमाकर्णयतु केवलम् ॥

[अब आर्य नागार्जुन भवगति का वर्णन कर रहे हैं--] आर्य ! भवगति (संसार में आना-जाना) अभीष्ट वस्तुओं की अप्राप्ति, मरण, व्याधि, जरा आदि अनेक दुःखों की मूल कारण है। अतः आप इस आवागमन के विषय में विरक्त ही रहें। मैं आपको इस भवगति के अनेक दोषों में से एक-दो दोषों को सुनाता हूं, इसी से आप इसकी भयंकरता से परिचित हो जायँगे ॥ १२५-१२६ ॥

६६. सांसारिकसम्बन्धे पुनर्जन्मैव हेतुः

१२७. संसारेऽस्मिन् पिता पुत्रो माता पत्नी रिपुः सुहृत् ।
कदाचिज्जायते नूनं जन्मनः परिवर्तनात् ॥

१२८. एवं जन्मपरावृत्तिर्भवतीति सुनिश्चितम् ।
अतश्चावागमे कश्चित् कुतश्चिन्नास्ति निश्चयः ॥

इस संसार में (भवगति के कारण) कभी पिता उसका पुत्र हो जाता है, कभी माता उसकी स्त्री हो जाती है, कभी उसका पूर्वजन्म का शत्रु मित्र बन जाता है। इस प्रकार जन्म-परिवर्तन के कारण ये सांसारिक सम्बन्ध प्रारब्धवश परिवर्त्तित होते रहते हैं। अतः इस आवागमन में कोई एक निश्चयात्मक स्थिति नहीं है कि आज जिसके साथ पितृ-सम्बन्ध हैं उसके साथ अन्य जन्मों में भी पिता का ही सम्बन्ध बना रहे ॥१२७-१२८॥

६७. अहो मूढस्य मूढता ! (मूर्ख की मूर्खता)

१२९. चतुरब्ध्यधिकं स्तन्यं स्वमातुरपिबद् ध्रुवम् ।
प्रत्येकं मानवो यद्यप्यथाप्यावागमानुगः ॥

१३०. तदर्थमसकृत् पातुं ततोऽपि प्रचुरं पयः ।
अहो रात्रिन्दिवं भ्राम्यन् यततेऽत्र पृथग्जनः ॥

यद्यपि प्रत्येक प्राणी ने इस सृष्टि में आने से आज तक चारों समुद्रों के जल से भी अधिक माताओं का स्तन्य (दुग्ध) पान कर लिया है। फिर भी इस भवचक्र में फँसे पृथग्जनों की माता के स्तन्यपान को दिन रात और अधिक पीते रहने की तृष्णा (प्यास) नहीं मिटी ॥ १२९-१३० ॥

६८. कथं स्यात् मातृगणना ! (माताओं की गणना कैसे हो !)

१३१. प्रत्येकं प्राणिनः स्वीयो योऽस्थिपुञ्जः समेधितः।
सुमेरोरपि दीर्घोऽसौ जन्म-जन्मान्तरार्जितः ॥

१३२. बदरीफलकाकारमृत्तिकागुलिकोच्चयम् ।
किं निर्माय विधीयेत स्वमातृगणना परा ॥

१३३. अनादिकालतस्तादृग्गणिते विहितेऽप्यथ।
महापृथ्वी भवेदेषा न पर्याप्ता कदाचन ॥

इस संसार में आते जाते प्रत्येक प्राणी द्वारा धारित शरीरों का अस्थि-पुञ्ज (हड्डियों के ढेर) ही यदि एक जगह एकत्र कर दिया जाय तो वह सुमेरु पर्वत से भी ऊँचा ही होगा। यदि कोई व्यक्ति समग्र पृथ्वी की मिट्टी से बदरीफल के आकार की गोलियां बनाकर, उनके सहारे (इस संसार में) अनादिकाल से आजतक की अपनी माताओं की गणना करने लगे तो इसके लिये यह महापृथ्वी भी पर्याप्त न होगी ! ॥ १३१-१३३ ॥

६९. ऐन्द्रं पदमवाप्यापि अन्ते मर्त्यलोकतिभ्र्वा

१३४. भवन् शक्रोऽपि लोकेऽस्मिन् पूज्यो भूत्वापि कर्मणा।
पुनः पृथ्वीमधिश्रित्य प्रच्युतो भवति ध्रुवम् ॥

१३५. चक्रवर्ती नृपो भूत्वा समुद्रान्तधराधिपः।
पुनरावागमे स्थित्वा दासतां याति जातुचित् ॥

यदि कोई मनुष्य प्रारब्धवश स्वकर्मों के पुण्यप्रभाव से स्वर्ग में ऐन्द्र पद प्राप्त कर कुछ समय लोकपूज्य रहकर भी उसे अपने उस पुण्यमय प्रारब्ध के क्षीण होते ही पुनः पृथ्वी पर आना ही पड़ता है। इसी तरह कोई मनुष्य स्वकीय पुण्य-प्रारब्ध से एक बार इस संसार का समुद्रपर्यन्त चक्रवर्ती सम्राट् बनकर उसका अपार ऐश्वर्यसुख भोगकर भी, उस प्रारब्ध के क्षीण

होते ही दूसरे पापमय प्रारब्धवशात् उसे दूसरे जन्म में इसी पृथ्वी पर पुनः किसी का दास बनकर जीवन-यापन करना पड़ सकता है ॥ १३४-१३५ ॥

७०. क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोके प्रवेशः (पुण्य क्षीण होने पर मर्त्यलोक में आना)

१३६. स्वर्गकन्यास्तनाभोगकटिस्पर्शं चिरन्तनम् ।
सानन्दमनुभूयापि भूयो नरकमृच्छति ॥
१३७. तत्र यन्त्रैश्च निष्पिष्य निकृत्यात्यन्तदारुणम् ।
वेदनां मार्मिकीं भुंक्ते चीत्कारं तनुतेतराम् ॥

राजन् ! यह भी हो सकता है कि जो मनुष्य आज स्वकीय पुण्यप्रारब्धवश स्वर्ग में अप्सराओं के मांसल और पेशल नितम्ब, कटि एवं स्तनों का स्पर्शोपभोग करते हुए असीम आनन्द का अनुभव कर रहा है, वही कल उस पुण्य प्रारब्ध के क्षीण होने पर, नाना यन्त्रों से कट कर, पिस कर, चीरा जा कर अत्यधिक दारुण यन्त्रणाएँ भोगने के लिये पुनः नरक में जा गिरे ॥ १३६-१३७ ॥

७१. सुमेरावुषित्वाप्यन्ते निरयपातः

१३८. पेशले सुखदे रम्ये सुमेरोः शिखरेऽपि च ।
सुचिरं पादसंस्पर्शानन्दमादाय भूयसा ॥
१३९. कुक्कूले निरये किञ्च कुणपे पतितः पुनः ।
दुःसहं दुःखमाप्नोति वैवश्येनातिकर्षितः ॥

राजन् ! यह दशा साधारण मनुष्य की ही नहीं, अपितु ऊँची भूमिका में पहुँचे हुए योगी (साधक) की भी हो सकती है। वह भी कभी प्रारब्धवश सुमेरु पर्वत के रम्य शिखर पर साधना की सुखद अनुभूति करता है और वही, उस प्रारब्ध के क्षीण होने पर, दूसरे पापमय प्रारब्ध के उदित हो जाने से वहाँ से योगभ्रष्ट होकर, कुक्कूल निरय या कुणप नरक में गिर कर विवशतापूर्वक असह्य दारुण दुःख भोगने लगता है ॥ १३८-१३९ ॥

७२-७३. विविधा नरकयातनाः (विविध नरकयातनाएँ)

१४०. स्वर्गस्त्रीभिः समं क्रीडां कृत्वाऽस्मिन् नन्दने वने ।
असिपत्रवनैर्भूयः पाणिपादादिकर्तनम् ॥

१४१. स्वःस्त्रीभिः सुन्दरीभिश्च परितः परिवेष्टितः ।
स्वर्णपद्माम्भसि स्नात्वा मन्दाकिन्यां मनोरमे ।।
१४२. पुनर्वैतरणीनद्यां पतित्वा भीषणेऽम्बुनि ।
असह्यं विकटं तापं सोढुमुत्प्लवते भृशम् ।।

राजन् ! यह भी सम्भव है कि जो आज पुण्य-प्रारब्धवश स्वर्ग के नन्दन वन में अप्सराओं के साथ केलिकुतूहल (आनन्दोपभोग) कर रहा है वही पापप्रारब्ध के कारण कल (दूसरे जन्म में) नरक के असिपत्रवन में जाकर अपने हाथ-पैर, नाक-कान कटवाने को विवश हो जाय ।। १४० ।।

इसके विपरीत यह भी हो सकता है कि जो मनुष्य आज स्वपुण्य-प्रारब्धवश मन्दाकिनी (स्वर्गङ्गा) के सुवर्णमय कमलपुष्पों की गन्ध से सुवासित जल में स्वर्ग की सुन्दर अप्सराओं से घिरा हुआ क्रीड़ा कर रहा हो वही, पुण्यक्षीण होने पर एवं स्वपापकर्मविपाक उपस्थित होने पर, (नरक की) भयानक वैतरणी नदी में गिर कर उसके जल में असह्य ताप (कष्ट) सहने के लिये विवश हो जाय ।। १४१-१४२ ।।

७४. ब्रह्मकायिकदेवलोकसुखभोगानन्तरमवीचिपातः (ब्रह्मलोक से नरक में पतन)

१४३. देवलोकगतं कामसुखं ब्रह्मत्वनिर्भरम् ।
वीतरागपरानन्दं सम्प्राप्यापि पुनः पुनः ।।
१४४. अवीचिनारकीयाग्नीन्धनीभूय निरन्तरम् ।
सन्तापातिशयं नूनं प्राप्नुवन् दूयतेतराम् ।।

और राजन् ! यह भी देखा गया है पूर्व पुण्यप्रारब्धवश ब्रह्मकायिक देवलोक में वीतरागियों के परम आनन्द का अनुभव करता हुआ, कोई प्राणी अन्त में (उस पुण्य के क्षीण होने एवं पापकर्मफल के उदित होने पर) अवीचि नरक में अतिशयेन जाज्वल्यमान अग्नि का इन्धन बनाकर अपने शरीर को बार-बार जलाते हुए असहनीय ताप का अनुभव करता है ।।१४३-१४४।।

७५. सूर्य-चन्द्रपद प्राप्याप्यन्तेऽन्धकारपातः (सूर्यलोक से गिरकर अन्धकारपात)

१४५. सूर्यचन्द्रपदं प्राप्य स्वशरीरप्रकाशतः ।
लोकमालोकितं कृत्वा पुनर्घोरतमोऽन्तरे ।।

१४६. विनिपत्यान्धवत् क्लेशमनुभूय भवार्णवे ।
न द्रष्टुं शक्यते सम्यक् स्वहस्तोऽपि प्रसारितः ॥

अथ च, राजन् ! यह भी सम्भव है कि कोई पुण्यात्मा, मनुष्य आज सूर्य-लोक या चन्द्र-लोक में निवास करता हुआ स्वशरीर के अनुपम आलोक से जगत् को आलोकित करता हो, फिर (पुण्यक्षीण होने पर) पापकर्मवश घोर अन्धकारमय नरक में, जहाँ हाथ को हाथ नहीं दिखायी देता हो, गिरकर ऐसा भीषण कष्ट अनुभव करने लगे कि सज्जनों का हृदय काँप उठे ॥ १४५-१४६ ॥

७६. मृत्युमेवं विनिश्चित्य पुण्यदीपं प्रकाशय (मृत्युविजय के लिये पुण्यदीप)

१४७. एवं ह्यनियते काले ज्ञात्वा मृत्योः समागमम् ।
मनोवाक्कायजं पुण्यं त्रिविधं कुशलात्मकम् ॥
१४८. प्रदीपप्रतिमं नित्यमार्य ! धार्यमहर्निशम् ।
चन्द्रार्कशून्ये तमसि गम्यमेकाकिना यतः ॥

इस प्रकार विवेकी पुरुष मृत्यु का अनियत समय जान कर, त्रिविध (काय, वाक् एवं चित्त से किये जाने वाले) पुण्य (कुशलकर्म) रूप प्रदीप को प्रज्वलित करे; क्योंकि वहाँ (मृत्युगह्वर में) अकेले ही ऐसे अन्धकार में प्रवेश करना पड़ता है जो सूर्य और चन्द्रमा की पहुँच से भी दूर है ॥

७७. रौरवं नरकं यान्ति प्राणिनो ये कुमार्गगाः (कुमार्गियों का रौरवपात)

१४९. कुशलक्लिष्टकर्माणः पुण्यप्रच्युतमानसाः ।
दुश्चरित्रेण संयुक्ताः प्राणिनो ये कुमार्गगाः ॥
१५०. सञ्जीवे कालसूत्रे च प्रतापे रौरवेऽपि च ।
सङ्घातेऽवीचिके नाम्नि नरके यान्ति ते ध्रुवम् ॥

जो मनुष्य मिथ्यादृष्टि प्रतिपन्न हैं, तथा स्वजीवनयापन के लिये पुण्य-पाप को छोड़कर एवं पापमय मार्ग को स्वीकार कर, चरित्रहीन हो चुके हैं, उनकी अन्तिम गति केवल सञ्जीव, कालसूत्र, प्रताप, सङ्घात, शंख या अवीचि नरकों में पतित होकर नित्य दुःख प्राप्ति ही रह जाती है ॥

७८. तत्र विविधदुःखवेदनानामनुभवः (नाना दुःख-वेदनाएँ)

१५१. कश्चिन्निष्पीड्यते तूर्णं तिलवत् कोऽपि चूर्णवत् ।
पिष्यते कश्चिदन्यश्चासिना सञ्छिद्यते द्विधा ॥
१५२. तीक्ष्णच्छुरिकया कश्चिदन्यश्छिन्नो विदार्यते ।
इत्थं चातिशयं कष्टं लभ्यते प्राणिनाऽमुना ॥

वहाँ (उन नरकों में) किसी प्राणी को तिलों से तैल की तरह निचोड़ दिया जाता है, या महीन (सूक्ष्म) चूर्ण की तरह पीस दिया जाता है। किसी को आरी से चीर दिया जाता है, तथा दूसरों को अतितीक्ष्ण कुल्हाड़ियों (कुठारों), छुरियों, तलवारों से काट दिया जाता है। इस तरह वहाँ सभी प्राणी अतिशय कष्ट के भागी बनते हैं॥ १५१-१५२ ॥

७९. तप्तलौहद्रवपानम् (गरम लोहा पिलाना)

१५३. इत्थमन्यो गलल्लोहरसस्तप्तो निपाय्यते ।
ज्वलदायसशङ्कूरथैः कण्टकैः कोऽपि दार्यते ॥

वहाँ किसी को उसके पापमय कर्मों के दण्डस्वरूप पिघला हुआ लौहा बलात् पिलाया जाता है, या फिर कोई गरम लोहे के तीखे एवं काँटेदार अंकुशों से छेद दिया जाता है या शूलों पर चढा दिया जाता है ॥ १५३ ॥

८०. श्वभिराकृष्य भक्षणम् (कुत्तों द्वारा नोंचना)

१५४. कोऽपि लौहमयैर्दन्तैः श्वभिराकृष्य भक्ष्यते ।
तीक्ष्णचञ्चुनखैः श्येनैर्विवशोऽन्यो निगृह्यते ॥

किसी को लोहे की दाढों वाले प्रचण्ड कुत्ते नोंच-नोंचकर खण्डशः (टुकड़े-टुकड़े) कर डालते हैं। या अन्य विवश प्राणियों को लाहे की तीक्ष्ण चोंच और नुकीले नखों वाले बाज पक्षी नोंच-नोंच कर उनके मांसपिण्डों को खाते रहते हैं ॥ १५४ ॥

८१. नानाविधकीटदंशनम् (साँप-बिच्छु का डँसना)

१५५. कोऽपि नानाविधैः कीटैर्विषाक्तैर्दशनैर्निजैः ।
सन्दश्यातितरां पीडाप्रदो घातो विधीयते ॥

१५६. तेन सञ्जातघातेन पीडाधिक्येन चार्दितः।
वारम्वारं लुठन् भूम्यामार्तश्चीत्कुरुतेतराम् ॥

किसी किसी को अनेक प्रकार के कीड़े या हजारों तरह के विषैले साँप-बिच्छु डँस डँस कर असीम कष्ट पहुँचाते हैं। वे उस कष्टमयी वेदना को न सहन करते हुए भूमि पर लुढक-लुढक कर निरन्तर चीत्कार (कराहते) करते रहते हैं ॥ १५५-१५६ ॥

८२. अग्नौ कूष्माण्डवत् पाकः (अग्नि में कोहड़े की तरह पकाना)

१५७. कश्चिदुज्ज्वलदिङ्गालपुञ्जे प्रज्वाल्यते चिरम्।
तन्मुखं पूर्यते तप्तैः स्फुलिङ्गैरपि निर्दयम् ॥

१५८. कश्चिदन्यः शिरो नीचैः पादावुच्चैर्विधाय च।
लौहकुम्भे निपात्याधः कूष्माण्ड इव पाच्यते ॥

कोई-कोई तीक्ष्ण प्रज्वलित (दहकते) अंगारपुञ्ज (कोयलों के ढेर) में निरन्तर जलाये जाते हैं, और उनके मुख में भी वे जलते अंगारे भर दिये जाते हैं। किसी-किसी को ऊपर पैर और नीचे सिर कर उसको तप्त लौह-कटाह में डालकर कूष्माण्ड (कद्दू) की तरह पकाया जाता है ॥१५७-१५८॥

८३. नोपदेशो हि मूर्खाणाम् (मूर्खों को शिक्षा देना निरर्थक)

१५९. यः पापात्मा मृतो भूत्वा कालान्तनरकं गतः।
पच्यमानोऽपि नो भीतो नारकीयातिदुःखतः ॥

१६०. कुलिशप्रकृतिर्धृष्टः स एष परिकथ्यते।
तत्कृते नोपदेशानां सार्थक्यं परमार्थतः ॥

जो पापी, देहपात के तत्काल बाद, कालान्तक नरक में पकाये जाते हैं और ऐसी ही त्रासदायी नारकीय वेदनाएँ सुनकर भी भयभीत नहीं होते उन्हें वज्रस्वभाव (कठोरचित्त) के अतिरिक्त क्या कहा जायगा ! वैसे जघन्य (अधम, नीच) पुरुषों को परमार्थ का उपदेश देने का लाभ क्या है ! ॥ १५९-१६० ॥

८४. तस्मै विपाकानुभवकथा वृथा ! (नरकविपाक की अवर्णनीय कथा)

१६१. नरकस्य यदा चित्रं दृष्ट्वा श्रुत्वा च सन्ततम्।
स्मृत्वा तद्विषये भूयः पठित्वापि निरन्तरम् ॥

१६२. तत्स्वरूपं विलोक्याथ यश्च भीतो भविष्यति।
तदा तस्य विपाकस्यानुभवस्त्वत्कृते वृथा ॥

(इसके विपरीत) जब कोई (आप जैसा पुण्यात्मा) नरक का केवल चित्र (मय वर्णन) देख सुन कर, तद्विषयक स्मरण कर, या पढ़कर, अथवा स्वयं उसका स्वरूप (दूसरों को भोगते हुए) देखकर ही डर जाता है तो उसे उस घोर विपाक का अनुभव कराने और बताने की भी क्या आवश्यकता है ! ॥ १६१-१६२ ॥

८५. तृष्णा-अवीचि-नरकयोः साम्यम् (तृष्णा एवं अवीचिनरक में समता)

१६३. यथा सर्वसुखेष्वेका क्षीणनन्दी विशिष्यते।
तथा दुःखेष्ववीच्याख्यं नरकं दारुणं परम् ॥

संक्षेप में हम आपको इस नरक के विषय में यही बताना चाहेंगे कि जिस प्रकार सब सुखों में क्षीण-तृष्णा ही सर्वोत्तम है, उसी प्रकार सब दुःखों में अवीचि नरक में भोगा जानेवाला दुःख ही सबसे अधिक दारुण (पीड़ादायक) है ॥ १६३ ॥

८६. त्रिशतकुन्तनिर्भेदोऽपि नारकीयदुःखतुलां नार्हति (तीन सौ भालों की मार भी नारकीय दुःख से कम)

१६४. जगत्यस्मिन् यदेकस्मिन् दिने कश्चिच्छताधिकैः।
कुन्तैर्निर्भिद्यते तीक्ष्णैर्दृढं चेन्मर्मभेदकैः ॥

१६५. न तदापि स तद् दुःखं नारकीयमनन्तकम्।
कलामात्रमपि ज्ञातुं शक्नुयाद् वस्तुतः स्वतः ॥

उदाहरण के रूप में आपको हम यह बता दें कि जैसे यहाँ (इस लोक में) किसी एक को एक ही दिन में तीन सौ भाले एक साथ भोंक दिये जाँय तो उससे हुई वह दारुण वेदना उस अवीचि नारकीय दुःख के शतांश (एक कला) की भी समानता नहीं कर पाती ॥ १६४-१६५ ॥

८७. दुराचारेण नारकजीवने वृद्धिः (नारकीय जीवन में दुराचार से वृद्धि)

१६६. दुःसहं चैवमत्यन्तं दारुणं दुःखजालकम्।
शतकोट्यब्दपर्यन्तं भुञ्जानोऽपि जनो भुवि ॥

१६७. यावच्चाकुशलं पापकर्म क्षीणं न जायते।
तावन्नो जीवनादस्मान्नारकीयात् प्रमुच्यते॥

आप उस नरक की दुःसहता के विषय में इतना ही समझ लें कि इस प्रकार करोड़ों वर्षों तक अत्यन्त दारुण दुःख भोगने पर भी जब तक उस पापी का अकुशल (पाप) कर्म पूर्णतः क्षीण नहीं होता तब तक उसका इस नारकीय दुःख से छुटकारा कथमपि नहीं हो सकता॥ १६६-१६७॥

नारकीय दुःखवर्णन समाप्त॥

८८. दुराचारोऽकुशलानां फलानां बीजम् (अकुशलविपाक का बीज दुराचार)

१६८. एषामकुशलानां च फलानां बीजमुच्यते।
मनोवाक्कायविहितो दुराचारोऽत्र केवलम्॥
१६९. भवान् कुत्रापि केनापि बलेनाप्यणुमात्रकम्।
तादृशो भवितुं नैव प्रयासं कुरुतां खलु॥

इन अकुशल विपाकों का बीज (मूल कारण) त्रिविध (काय-वाक्-चित्त) कर्मों से उत्पन्न दुराचार ही है। अतः आपसे किसी भी अवस्था में यह दुराचार न हो पावे—ऐसा आप स्वसामर्थ्यानुसार निरन्तर प्रयास करते रहें॥ १६८-१६९॥

८९. तिर्यग्योनिषु जायमानदुःखानां वर्णनम् (तिर्यग्योनि-दुःखवर्णन)

१७०. तिर्यग्योनौ हतिर्बन्धो मारणं पीड़नादिकम्।
नानादुःखानि सह्यानि भवन्ति प्रचितान्यपि॥
१७१. शान्तिकृत्कुशलत्यागं कुर्वन्तो जन्तवो हठात्।
निर्दयं भक्षयन्त्येते समाक्रम्य परस्परम्॥

तिर्यग्योनि में उत्पन्न प्राणी को भी स्वकीय-परकीय हत्या, वध, बन्धन, कलह, मार-पीट आदि नानाविध दुःख झेलने पड़ते हैं। वहाँ भी शान्तिदायी कुशलकर्मों का त्याग करने वाले हिंसक जीव एक-दूसरे को निर्दयतापूर्वक खा डालते हैं॥ १७०-१७१॥

९०. पशूनां वधेऽन्येऽपि हेतवः (पशुवध के अन्य कारण)

१७२. मौक्तिकोर्णास्थिरक्तावतमांसचर्मादिना कृते ।
हन्यन्ते पशवः केऽपि मनुष्यैर्मृगयाच्छलात् ॥
१७३. चरणैर्मुष्टिभिः किञ्च कशाभिश्चांकुशैस्तथा ।
मनुष्याणां कृते चान्ये निपात्यन्तेऽवशीकृताः ॥

इनमें से कुछ पशु एवं सरीसृप मोती के लिये (हाथी या साँप), कुछ ऊन के लिये (भेड़), कुछ रक्त के लिये (गौ आदि), कुछ मांस के लिये (शूकर आदि), कुछ चर्म के लिये (मृग, सिंह आदि) मारे जाते हैं, अर्थात् इन्हें इन्हीं सबके लिये मनुष्यों का शिकार होना पड़ता है। तथा कुछ अन्य पशु-पक्षी आदि विवश होकर पाद-प्रहार या लात-घूँसों से या कोड़ों से तथा अंकुश एवं भाला भोंककर मारे जाते हैं और मनुष्यों द्वारा उपयोग में लिये जाते हैं ॥ १७२-१७३ ॥

तिर्यग्योनिदुःखवर्णन सम्पन्न ॥

९१-९६. प्रेतलोके जायमानानां दुःखानां वर्णनम् (प्रेतलोक-दुःखवर्णन)

१७४. प्रेतलोकेऽभीष्टस्य वस्तुनोऽभावतो भृशम् ।
तृषा-बुभुक्षा-शीतोष्णैः क्लान्त्या दुःखमवाप्यते ॥
१७५. गिरितुल्योदरः कश्चित् सूचीच्छिद्रमुखाननः ।
बुभुक्षापीड़ितो रौति भोक्तुं शक्तेरभावतः ॥

प्रेतयोनि में भी अभीष्ट वस्तुओं की प्राप्ति के अभाव में भूख-प्यास, सर्दी-गर्मी से पीड़ित रहते हुए अत्यधिक कष्ट पाते हैं।

१. वहाँ किसी का पेट पहाड़ के समान विशाल होता है, परन्तु मुख सूई जितना सा पतला। अतः उसे घूरे पर फेंके कूड़े में से प्राप्त क्षुद्र वस्तु खाने का भी सामर्थ्य नहीं होता। अतः, उसे भर पेट भोजन न मिलने के कारण, वह अतिक्षण भूख से व्याकुल रहकर चिल्लाता रहता है ॥ १७४-१७५॥

१७६. कस्यचिच्च तनावस्थि-चर्ममात्रं न किञ्चन ।
शुष्कतालद्रुमप्रख्यं शिरश्चोच्चैर्विलोक्यते ॥

१७७. कस्यचिच्च मुखे वह्निः प्रतिनक्तं ज्वलत्यलम् ।
तप्तास्य पतिताहारस्तस्यैषा सिकता मता ॥

२. किसी के शरीर पर केवल अस्थि या चर्म ही रहते हैं; बाकी कुछ नहीं रहता । ३. किसी का शिर दूर से ही खजूर के वृक्ष के समान दिखायी देता है । ४. किसी के मुख में समग्र रात्रि अग्नि ही जलती रहती है और उस तप्त मुख में गिरा हुआ उष्ण बालु (रेत-मिट्टी) ही उनका भोजन होता है ॥ १७६-१७७ ॥

१७८. केभ्यश्चित्तु मलोत्सर्गो रक्ताद्यपि न लभ्यते ।
तैः प्रेतैश्च मिथो हत्वा ग्रीवोत्थं पायु पीयते ॥

५. वहाँ नीच प्रेतयोनि में उत्पन्न कुछ प्रेतों को मल, पीव (वसा) और रक्त आदि भी नहीं मिल पाता, अतः वे एक दूसरे के मुख पर प्रहार कर उनकी ग्रीवा या गलगण्ड से निःसृत पीब को पीकर ही अपनी भूख-प्यास मिटाते हैं ॥ १७८ ॥

१७९. ग्रीष्मर्तोश्चन्द्रमा उष्णतरः प्रेतात्मनां कृते ।
तथा हैमन्तिकः सूर्यस्तत्पुरः शीतलायते ॥
१८०. प्रेतदृष्टिङ्गताः सद्यः फलवन्तोऽपि पादपाः ।
फलहीनाश्च जायन्ते नद्यः शुष्कतलोदकाः ॥

उस योनि में जन्म लेने पर, कुछ प्रेतों के लिये ग्रीष्म-ऋतु के चन्द्रमा की शीतलता भी भयङ्कर उष्ण (गर्म) लगती है, और कुछ को हेमन्तर्तु के सूर्य का ताप भी ठण्डा लगता है । और तो और, ये प्रेत जिन फलवाले वृक्षों पर अपना वास बना लेते है, वे तत्काल फलहीन हो जाते हैं और नदियाँ भी सूख जाती हैं ॥ १७९-१८० ॥

१८१. दुष्कर्मपाशबद्धानां केषाञ्चिद् देहधारिणाम् ।
प्राणैर्वर्षसहस्राणि सदा दुःखं प्रभुज्यते ॥

दुष्कर्मरूपी पाश (फन्दों) में बँधे इस प्रेतयोनि में पतित कुछ प्राणियों के प्राण एक लाख, पचास हजार वर्ष तक निरन्तर दुःख भोगते रहने पर भी नहीं छूटते ॥ १८१ ॥

९७. मात्सर्य-लोभावेव दुःखभोगकारणम् (मात्सर्य और लोभ दुःखोत्पादक)

१८२. इत्थं प्रेतात्मनां नानादुःखभोगस्य कारणम् ।
बुद्धोक्त्याऽनार्यमात्सर्य-लोभ एवेति निश्चितम् ।।

प्रेतयोनि में उत्पन्न प्राणियों को ये नाना कष्ट इस प्रकार निरन्तर क्यों भोगने पड़ते हैं ? इसके उत्तर में भगवान् बुद्ध ने यही कहा है कि इनमें अनार्य मात्सर्य (ईर्ष्या=डाह) और लोभ की अत्यधिक मात्रा ही इनके प्रेतयोनि में पतन का एकमात्र कारण है ।। १८२ ।।

प्रेतयोनिदुःखवर्णन समाप्त ।।

९८. निर्वाणेप्सुभिः स्वर्गसुखमपि नाभिवाञ्छनीयम् (साधक के लिये स्वर्गसुख त्याज्य)

१८३. यद्यपि स्वर्गतं भूयः सुखं किन्तु मृतिच्युतेः ।
दुःखं चातितरां तस्मान्मनस्येवं विचिन्त्य च ।।

१८४. आर्याः क्षीणं सुखस्वर्गगतं तृष्णोन्मुखीकृतम् ।
नाभिवाञ्छेयुरत्यन्तं कांक्षन्तः परमं पदम् ।।

राजन् ! "स्वर्गलोक में यद्यपि अत्यधिक सुख है, परन्तु पुण्य क्षीण होने पर स्वर्गलोक से च्युत (पतित) होने का दुःख उससे भी बढ़कर है"— ऐसा विचार कर आर्यजनों को स्वर्ग के क्षणस्थायी सुख के लिये अत्यधिक तृष्णा नहीं करनी चाहिये। अपितु (इसके विपरीत) उन्हें शान्त परमपद (निर्वाण) की प्राप्ति के लिये ही निरन्तर प्रयास करते रहना चाहिये ।। १८३-१८४ ।।

९९. स्वर्गतश्च्युतेश्चिह्नानि (स्वर्गच्युति के पूर्व चिह्न)

१८५. वपुर्दुर्वर्णता किं वा स्वासनेऽप्यरुचिः परा ।
पुष्पस्रग्जीर्णता वस्त्रे मालिन्यं रजसाऽऽवृत्तिः ।।

१८६. पञ्चैतानि निमित्तानि स्वर्गतश्च मृतिच्युतेः ।
मृत्युकालेऽभिजायन्ते देवलोकनिवासिनाम् ।।

१. शरीर का दुर्बल हो जाना, २. अपने आसन (निवास) से अरुचि होना, ३. धारण की हुई माला का कुम्हला जाना, ४. पहने हुए वस्त्रों का

मलिन होना, एवं ५. उसके शरीर का अनैमित्तिक धूल से आच्छादित हो जाना—स्वर्ग से च्युत होने के ये पाँच (५) पूर्वनिमित्त हैं जो देवलोक (स्वर्ग) में रहने वालों की वहाँ से च्युति के पूर्व उनके शरीर पर प्रकट होने लगते हैं ॥ १८५-१८६ ॥

१००. पृथ्वीवासोऽपि दुःखदः (पृथ्वीवास भी दुःखद)

१८७. इमान्येव पृथिव्यां च वासिनां प्राणिनामपि ।
मृत्युकारणतुल्यानि सम्भवन्ति समन्ततः ॥
१८८. कुशलं कर्म चेत् किञ्चित् पूर्वतो नावशिष्यते ।
तदा ते देवलोकाच्च सम्भूय प्रच्युताः पुनः ॥

ये निमित्त भी तो पृथ्वीलोकवासियों के ही समान हैं। फिर स्वर्गसुख में विशेषता ही क्या रही; जबकि वह सुख भी, इन निमित्तों के कारण, विनाशी ही प्रतीत होता है! सचाई यह है कि यदि प्राणी का कोई कुशल कर्म अवशिष्ट नहीं है तो उसका स्वर्गलोक से चयवन सुनिश्चित है ॥

१०१. तिर्यग्योनिः प्रेतयोनिश्च दुःखदैव (पशु एवं प्रेतयोनि भी दुःखद)

१८९. विवशा विहताशाश्च पशुषु प्रेतयोनिषु ।
नरकेषु च संवासं विधातुं निपतन्त्यमी ॥

तब उन प्राणियों का एवं निराशा के साथ विवशतापूर्वक पशु (तिर्यग्योनि) या प्रेतयोनि अथवा नरक में पतन अवश्यम्भावी है ॥ १८९ ॥

१०२. आसुरी योनिरपि कष्टदा (आसुरी योनि भी कष्टप्रद)

१९०. असुरेष्वपि चात्यन्तं कष्टं मानसिकं स्मृतम् ।
यतस्ते प्रज्वलयन्त्याराद् वीक्ष्य दैवतवैभवम् ॥
१९१. बुद्धिमन्तश्च सन्तोऽपि स्वगत्यावरणादिमे ।
सत्यसन्दर्शनं कर्तुमसमर्था भवन्त्यहो! ॥

असुरयोनि में पहुँचने पर, प्राणी को मानसिक कष्ट ही अधिक झेलना पड़ता है; क्योंकि वे देवताओं के ऐश्वर्य से निरन्तर ईर्ष्या करते रहते हैं। वे पशुओं या प्रेतों से अपेक्षाकृत बुद्धिमान् होते हैं, परन्तु अपनी आसुरी गति

के आवरण के कारण उनके लिये यह खेद की ही बात है कि वे सत्य का दर्शन (साक्षात्कार) करने में असमर्थ रहते हैं ॥ १९०-१९१ ॥

१०३. अपुनर्जन्मने यतनीयम् (अपुनर्जन्म के लिये प्रयास)

१९२. गतेरावागमस्येत्थं तस्माद्धेतोर्निरन्तरम् ।
देवेषु मानवेष्वेवं नरकेषु पशुष्वपि ॥

१९३. प्रेतेषु च जनिं लब्ध्वा न सुष्ठु प्रतितिष्ठति ।
यतस्तत्र जनैर्नैकदुःखपात्रत्वमाप्यते ॥

अतः हे राजन् ! आपकी बुद्धिमत्ता इसी है में कि आप ऐसा कोई अकुशल कर्म न करें कि जिससे आपको इस भवसागर में बार बार डूबना-उतराना पड़े, या फिर उन कर्मों के कारण देव-मानव, नरक, तिर्यग्योनि या प्रेतयोनि में जन्म लेने के लिये विवश होना पड़े; क्योंकि ये सभी योनियाँ एकमात्र दुःख की ही पात्र हैं, इनमें उत्पन्न होकर आप किसी शाश्वत सुख की आशा न रखें ॥ १९२-१९३ ॥

१०४. एतस्मिन् प्रयासे एका उपमा (इस प्रयास पर एक दृष्टान्त)

१९४. स्वशिरोवस्त्रसंलग्नमकस्मादग्निमप्यथ ।
शान्तं कर्तुं प्रहायापि त्यक्त्वा तनु-मनोहितम् ॥

१९५. अपुनर्जन्मने यत्नः कर्तव्यः परमार्थिना ।
यतश्चास्मात् परं नान्यदुत्तमं स्यात् प्रयोजनम् ॥

आपके शिरोवस्त्र में कभी किसी कारण अग्नि लग जाय तो उसे भी शान्त करना (बुझाना) छोड़कर, अर्थात् अपने तन-मन की अपेक्षा (परवाह) न करते हुए भी, आप अपना पुनर्जन्म न होने के प्रयास में ही लगे रहें; क्योंकि इससे अधिक मानवदेह-प्राप्ति का कोई अन्य उत्तम साधन हो ही नहीं सकता ॥ १९४-१९५ ॥

१०५. निर्वाणं प्रापणीयम् (निर्वाण ही प्राप्त करने योग्य)

१९६. शील-प्रज्ञा-समाधीनां माध्यमेन विलक्षणम् ।
अजरं चाऽमरं किञ्चाक्षयं ज्योतिर्मयं शुभम् ॥

१९७. **पृथ्वी-तेजो-मरुत्-सूर्य-चन्द्रेभ्योऽपि परात् परम् ।**
निर्मलं च पदं दिव्यं निर्वाणं प्राप्यमुच्चकैः ॥

आप तो पीछे कही गयी शील, समाधि एवं प्रज्ञा की साधना के द्वारा शान्त, दान्त, अजर, अमर, अक्षर एवं पृथ्वी, तेज, वायु, सूर्य, चन्द्रमा से भी उत्तम और इनसे भी अप्रभावित निर्मल (शुद्ध) पद (निर्वाण) की प्राप्ति का ही निरन्तर प्रयत्न करते रहें ॥ १९६-१९७ ॥

१०६. बोध्यङ्गसप्तकम् (सात बोध्यङ्ग)

१९८. **स्मृतिश्च धर्मविचयो वीर्यं प्रीतिश्च शाश्वती ।**
प्रश्रब्धिश्च समाधिश्चोपेक्षा बोध्यङ्गसप्तकम् ॥

१९९. **सप्तैतानि च निर्वाणसम्प्राप्तेः साधनान्यपि ।**
विज्ञैः कुशलमूलानि सन्तीत्युक्तानि सर्वतः ॥

आप यह समझ लीजिये कि स्मृति, धर्मविचय, वीर्य, प्रीति, प्रश्रब्धि, समाधि और उपेक्षा—ये सात सम्बोधि के अङ्ग (उपाय) हैं। जो निर्वाण-प्राप्ति के लिये कुशलमूल हैं ॥ १९८-१९९ ॥

१०७. प्रज्ञाध्यानयोरविनाभावित्वम् (प्रज्ञा एवं ध्यान का अविनाभावित्व)

२००. **विना प्रज्ञां न च ध्यानं सम्भाव्यं, ध्यानमन्तरा ।**
प्रज्ञाऽप्यसम्भवा तस्मादुभयोर्हेतुता मता ॥

२०१. **प्रज्ञा ध्यानद्वयं यत्र विद्यते तत्कृते त्वयम् ।**
भवाब्धिर्गोष्पदीभूतो जायते नात्र संशयः ॥

विना प्रज्ञा के ध्यानभावना असम्भव है, और ध्यान के विना प्रज्ञा की भी सम्भावना नहीं है। हाँ ! जिसमें ये दोनों विद्यमान है उसके लिये यह भवसागर पार करना भी गोष्पद (गौ के खुर से होने वाले गड्ढे के सदृश गड्ढा) के समान हो जाता है ॥ २००-२०१ ॥

१०८. दशाव्याकृता लोकाः (दश अव्याकृत लौकिक प्रश्न)

२०२. **आदित्यबन्धुना तेन बुद्धेनोक्ताः पुरा दश ।**
लोका अव्याकृतास्तेषां विधेयं नैव चिन्तनम् ॥

२०३. यतस्तच्चिन्तनेनैवाशान्तं चित्तमहर्निशम् ।
सर्वथा तद्विमुक्त्यर्थं यतनीयं मनस्विना ॥

आदित्यबन्धु (भगवान् बुद्ध) ने दश अव्याकृत (अकथनीय, भिक्षु के द्वारा व्याख्यान न करने योग्य) प्रश्न बताये हैं; क्योंकि उनके चिन्तन-मनन से चित्त अशान्त ही होता है ॥ २०२-२०३ ॥

१०९–१११. प्रतीत्यसमुत्पादः (प्रतीत्यसमुत्पाद)

२०४. 'अविद्याकारणादत्र संस्कारः'—मुनिरुक्तवान् ।
संस्कारेण च विज्ञानं नामरूपे च तेन ते ॥
२०५. नामरूपात्मकाद्धेतोरायतनं पुनरुच्चितम् ।
तत्कारणसमुद्भूतः स्पर्शस्तेन च वेदना ॥
२०६. तया तृष्णोद्भवो भूयस्तयोपादानमिष्यते ।
उपादानाद् भवस्तस्माज्जातिर्जन्मेति कथ्यते ॥
२०७. जात्या जरा मृतिः शोकः परिदेवो मनोऽरतिः ।
इष्टवस्तुवियोगश्च, विनाशश्चोपजायते ॥
२०८. एतान्यसङ्ख्यदुःखानि पुञ्जीभूतानि जन्मना ।
तन्नाशादेव सर्वेषां निरोधः सुकरो भवेत् ॥

[अब आर्य नागार्जुन प्रतीत्यसमुत्पाद सिद्धान्त का संक्षेप में वर्णन कर रहे हैं—] मुनि (भगवान् बुद्ध) ने बताया है कि अविद्या के कारण संस्कार होता है, संस्कार के कारण विज्ञान, और विज्ञान के कारण नाम-रूप, नाम-रूप के कारण छह आयतन, एवं छह आयतनों के कारण स्पर्श उत्पन्न होता है ॥

स्पर्श के कारण वेदना, वेदना के कारण तृष्णा, तृष्णा के कारण उपादान (परिग्रह), उपादान के कारण भव, और भव के कारण जाति (जन्म) होती है ।

जाति के कारण जरा (बुढ़ापा), मरण, शोक, परिदेव (विलाप) चित्त में खेद, अभीष्ट वस्तु का न मिलना, या मिलने पर उसका विनाश

हो जाना, अनभीष्ट वस्तुओं का मिल जाना या उनसे छुटकारा न मिलना आदि महान् दुःखसमूह का प्राणी को सामना करना पड़ता है। इस जाति (जन्म) के नाश से ही (क्रमशः अविद्या तक) इन सब कारणों का निरोध हो पाता है॥ २०४-२०८॥

११२. प्रतीत्यसमुत्पादमाहात्म्यम (प्रतीत्यसमुत्पादसाधना की महिमा)

२०९. यः प्रतीत्यसमुत्पादः स गम्भीरतमो मतः।
बुद्धेनोक्ते त्रिपिटके महार्घं रत्नमुत्तमम्॥

२१०. यश्चैनं सम्यगालोच्य हृदयेनावधारयेत्।
बुद्धोपदिष्टतत्त्वानां स सारं पश्यति ध्रुवम्॥

[प्रतीत्यसमुत्पादसाधना का महत्त्व—] उपरिवर्णित यह प्रतीत्यसमुत्पादसिद्धान्त मनन-चिन्तन में बहुत ही गम्भीर है। तथा भगवान् बुद्ध के वचनभाण्डागार (त्रिपिटक) का सबसे बहुमूल्य रत्न है। जिस साधक ने इस प्रतीत्यसमुत्पाद सिद्धान्त की सम्यक्तया साधना (अभ्यास) कर ली है उसने मानों भगवान् बुद्ध द्वारा उपदिष्ट सभी तत्त्वों का साक्षात्कार कर लिया है॥ २०९-२१०॥

११३. आर्योऽष्टाङ्गिको मार्गः (आर्य अष्टाङ्गिक मार्ग)

२११. सम्यग्दृष्टिश्च सङ्कल्पः कर्मान्तो वचनं तथा।
सम्यगाजीविका सम्यक्प्रयत्नः स्मृतिरेव च॥

२१२. सम्यक्समाधिरित्येते मार्गा अष्टाङ्गिका मताः।
सम्यगेते भावनीया यतः शान्तिप्रदा इमे॥

भगवान् बुद्ध द्वारा अनुमोदित—१. सम्यग्दृष्टि, २. सम्यक्सङ्कल्प, ३. सम्यग्वचन, ४. सम्यक्कर्मान्त, ५. सम्यगाजीविका, ६. सम्यग्व्यायाम (प्रयत्न), ७. सम्यक्स्मृति, एवं ८. सम्यक्समाधि—धर्मसाधना के ये आठ उपाय 'आर्य अष्टाङ्गिक मार्ग' कहलाते हैं। राजन्! आप इनकी भावना (साधना, अभ्यास) करें; क्योंकि ये ही मार्ग आपके मन को स्थिर शान्ति प्रदान करने वाले हैं॥ २११-२१२॥

११४. जातिर्दुःखा (जन्म दुःखमय है)

२१३. इदं जन्म परं दुःखं तृष्णैवामुष्य कारणम् ।
तन्निरोधः परा मुक्तिस्तस्मात् तृष्णां परित्यजेत् ॥

२१४. तृष्णानिरोधसम्प्राप्त्यै यत्नः कार्यो निरन्तरम् ।
आर्याष्टाङ्गिकमार्गास्ते तदर्थं मुनिनोदिताः ॥

यह संसार में जन्म होना 'दुःख' है । तृष्णा (=भोगलिप्सा) इस दुःख का 'समुदय' (कारण) है । इस तृष्णा का 'निरोध' करना ही मुक्ति है। उस मुक्ति (निर्वाण) की प्राप्ति का उक्त आर्य अष्टाङ्गिक मार्ग ही सर्वोत्तम उपाय है । आपको उसका सतत अभ्यास करना चाहिये ॥

११५. आर्यसत्यचतुष्टयम् (चार आर्य सत्य)

२१५. यतनीयमिदं ज्ञातुमार्यसत्यचतुष्टयम् ।
एवमेतत् समाज्ञाय नित्यं यत्र महीयते ॥

२१६. राज्यसम्पत्तिभोक्तारो गृहिणोऽपि तदन्वयात् ।
क्लिष्टं भवाब्धिं तर्तुं वै शक्नुवन्ति प्रयत्नतः ॥

अतः, राजन् ! आप इन चार आर्यसत्यों के ज्ञानहेतु सतत प्रयत्न करें । जिनके ज्ञान से घर-गृहस्थी के जञ्जाल में फँसा दीखने वाला (सांसारिक भोग भोगने वाला) साधारण जन भी इस दुःखमय भवसागर को सरलता से पार कर जाता है ॥ २१५-२१६ ॥

११६. सद्धर्मसाक्षात्कारमाहात्म्यम् (सद्धर्म के साक्षात्कार की महिमा)

२१७. साक्षात्कुर्वन्ति ये केचित् धर्ममेनं महोदयम् ।
स्वर्गात्ते पुनरावर्त्य नायान्ति धरणीतलम् ॥

२१८. न सस्यफलवत् ते हि निर्गच्छन्त्यवनीतलात् ।
अल्पोद्योगेन ते क्लेशाधीनाः सन्ति पृथग्जनाः ॥

[सद्धर्म-साक्षात्कार का माहात्म्य—] राजन् ! जो इस भगवान् बुद्ध द्वारा उपदिष्ट सद्धर्म का सम्यक् साधना द्वारा साक्षात्कार करते हैं, वे इससे प्राप्त पुण्यबल से आकाश (स्वर्ग) में पहुंचकर पुनः इस पृथ्वी पर (जीव-

लोक में) उतरकर नहीं आते। परन्तु वे भी पहले से ही इस (सद्धर्म) का ज्ञान नहीं पा चुके होते हैं, न पेड़-पौधों की तरह अल्प आयास से पृथ्वी फाड़ कर निकलते हैं; प्रत्युत वे भी प्रथमतः क्लेशाधीन साधारण पृथग्जन ही थे। अपितु उन्हें आज इस स्थिति में पहुँचाने वाला एकमात्र कारण सतत अभ्यास द्वारा यह सद्धर्म का साक्षात्कार ही है ॥ २१७-२१८ ॥

११७. त्वदीया कल्याणकामना (हितकामना)

२१९. नाधिकं वक्तुमस्त्यत्र भयहीन ! भवत्कृते।
कल्याणं निखिलं कर्त्तुमुपदेशस्त्वयं स्मृतः ॥
२२०. स्वचित्तदमनं कार्यं भगवान्चिवानिदम्।
सर्वकर्मैकमूलं हि चित्तमेव निगद्यते ॥

हे निर्भय राजन् ! आपके लिये मेरे द्वारा अब और अधिक उपदेश की आवश्यकता नहीं रह गयी। भगवान् का कल्याणकारी उपदेश यही है कि आप अपने चित्त का निग्रह (दमन) करें, क्योंकि उन पूजनीय भगवान् ने यह कहा है कि चित्त का दमन ही इस सद्धर्म-प्राप्ति का मूल हैं ॥

११८. उपदेशस्य गाम्भीर्यम् (बुद्धोक्त उपदेशों की गम्भीरता)

२२१. यन्मया पत्रके ह्यस्मिन्नुपदिष्टमनुत्तमम्।
दुष्करं तत्तु भिक्षूणां कृतेऽपि प्रथितात्मनाम् ॥
२२२. अतोऽत्र यस्याचरणं कुरुते तत्परो भवान्।
जीवनं सफलं कुर्यात् सदाचारपरायणः ॥

मेरे इस पत्र में लिखित इस उपदेश का अक्षरशः पालन तो भिक्षुओ के लिये भी दुष्कर है, फिर आप तो अभी गृहस्थ हैं। अतः, इनमें से जिस उपदेश का आप पालन कर सकें उसी का सतत पालन करते हुए, सदाचारपूर्वक अपने जीवन को सफल बनावें ॥ २२१-२२२ ॥

११९. परिणामना (अपने और दूसरों के सत्कर्मों का अनुमोदन)

२२३. सर्वैरनुष्ठितं कर्म प्रत्येकं कुशलं किल।
अनुमोदय स्वयं स्वेन त्रिविधं सुकृतं कृतम् ॥

२२४. कायेन मनसा वाचा यत् सदाचरणं महत् ।
बुद्धत्वप्राप्तये तस्य क्रियतां परिशीलनम् ॥

राजन् ! आप अन्य सज्जनों द्वारा किये गये प्रत्येक कुशल (पुण्य) कार्य का अनुमोदन करते हुए, बुद्धत्व-प्राप्ति के लिये अपने त्रिविध सदाचरणों (काय-वाक्-चित द्वारा कृत कुशल कर्मों) की परिणामना (उपयोग में लाना) करें ॥ २२३-२२४ ॥

१२०. आर्यावलोकितेश्वरवदाचरणीयम् (आर्य अवलोकितेश्वर का आदर्श)

२२५. तदाऽनेन भवान् पुण्यराशिना विहितेन च ।
देवानां च मनुष्याणां भूत्वा योगेश्वरः पुनः ॥
२२६. जन्म-जन्मान्तरेष्वेवमसङ्ख्येषु परिभ्रमन् ।
आर्यावलोकितेशस्य चरित्रसदृशं चरन् ॥

तब आप स्वकृतकर्मों से प्राप्त इस पुण्यराशि द्वारा असङ्ख्य जन्म-जन्मान्तर तक देवों और मनुष्यों के योगेश्वर (पथ-प्रदर्शक) बनकर **आर्य अवलोकितेश्वर** के चरित्र के समान जगत् के अनेक प्राणियों को स्वकर्म से अनुगृहीत करते रहे ॥ २२५-२२६ ॥

१२१. आर्यामिताभवदाचरणीयम् (अन्तिम जन्म में अमिताभतुल्य आचरण)

२२७. नानादुःखसमाक्रान्तमनुग्राह्य जगत् समम् ।
जन्म चैवान्तिमं लब्धा निःशेषं क्लेशमात्रकम् ॥
२२८. व्याधि-वार्धकरागादिद्वेषमोहादिकं परम् ।
दूरीकृत्य प्रकाशेत स भवानमिताभवत् ॥
२२९. तादृशश्च भवान् भूत्वा बुद्धक्षेत्रे पदं दधत् ।
जगन्नाथोऽमितायुश्च चिरं भवतु भास्वरः ॥

तथा निर्वाण के समीप पहुँचते हुए, अपने अन्तिम जन्म में आप व्याधि, वार्धक (बुढ़ापा), राग-द्वेष, लोभ-मोह से दूर रहते हुए, **भगवान् अमिताभ** के समान, बुद्ध क्षेत्र में जगन्नाथ एवं अपरिमितायु होते हुए देदीप्यमान रहें ॥ २२७-२२९ ॥

१२२. जगद्धिताय चारिका करणीया (जगत् के हित के लिये चारिका)

२३०. प्रज्ञया शील-दानाभ्यां समुपार्जितमुज्ज्वलम् ।
देवलोकेऽन्तरिक्षे च सम्प्रसार्य यशो निजम् ।।

२३१. पृथिव्यां मानवाः स्वर्गे देवा ये वा सदा नवाः ।
सुरस्त्रीभिः समं नित्यं लीना वैषयिके सुखे ।।

आप प्रज्ञा, शील और दान से उपार्जित स्वकीय निर्मल यश को देवलोक (स्वर्ग) एवं आकाश (-चारी अन्य देवलोकों) में, तथा इस लोक में (पृथ्वी पर) फैला कर, चारिका करते हुए स्वर्ग के देवताओं के, जो कि नित्य युवा रहते हुए अप्सराओं के साथ विषयसुख में निरन्तर लीन रहते हैं, चित्त को अपने उपदेशों से शान्त करें ।। २३०-२३१ ।।

१२३. प्राणिनो निर्भयान् कृत्वा निर्वाणं प्रापणीयम् (प्राणियों को निर्भय करके ही निर्वाण के लिये प्रयास)

२३२. तान् प्रशान्तान् विधायान्ये प्राणिनः क्लेशपीडिताः ।
जन्म-मृत्युभयं तेषां दूरीकर्तुमलं परम् ।।

२३३. जिनेन्द्रत्वमभीति चाजरं किं चामरं च तत् ।
निरुपधिशेषनिर्वाणं प्राप्नुयान्मानवोत्तम ! ।।

इसी तरह अपने निर्मल उपदेशों से क्लेश पीड़ित पृथ्वीवासी प्राणियों को भी जन्म-मृत्यु के भय से निर्भीक कर शान्त पद तक अग्रसर करते हुए आप जिनेन्द्रत्व (बुद्धत्व) एवं अभय, अजर अमर निरुपधिशेष निर्वाण को प्राप्त करें--यही मेरी आपके प्रति शुभकामना है ।। २३२-२३३ ।।

१२४. निगमनम् (उपसंहार)

२३४. आचार्यनागार्जुनसम्प्रणीतो
लेखः सुहृन्मोदकरः प्रशस्तः ।
सम्प्रेषितो मित्रवराय राज्ञे
समाप्तिमत्रागमदात्तसारः ।।

सुहृदों के चित्त को प्रसन्न करने वाला आचार्य आर्य नागार्जुन द्वारा प्रणिबद्ध यह पत्र (उनके) मित्र शातवाहन राजा को प्रेषित किया गया ।।

२३५. श्रीसर्वज्ञानदेवश्चोपाध्यायो भारतोद्भवः ।
वन्दे द्पलर्चेगश्चानुवादं विशदं व्यधात् ॥

[संस्कृत-पत्र का तिब्बती भाषा में अनुवाद करने वालों के नाम—] १. भारतीय उपाध्याय (पण्डित) सर्वज्ञानदेव एवं २. संस्कृत एवं भोट-भाषा के प्रसिद्ध द्विभाषक (दुभासिया) —द्पल र्चेग्स द्वारा इस पत्र का भोटभाषा में अनुवाद किया गया ॥ २३५ ॥

❀❀❀

ये धर्मा हेतुप्रभवा हेतुं तेषां तथागतो ह्यवदत् ।
तेषां च यो निरोध एवंवादी महाश्रमण: ॥

—आयुष्मान् अश्वजित्

टिप्पणी

पृ० २, श्लो० ७, छह अनुस्मृतियाँ

अन्य विषयों को त्याग कर केवल एक ही विषय (साध्य) पर ध्यान लगाकर उसे स्मरण करना ही 'अनुस्मृति' कहलाता है। त्रिपिटक में इनकी संख्या छह (६) बतायी गयी है; जैसे—१. बुद्धानुस्मृति, २. धर्मानुस्मृति, ३. सङ्घानुस्मृति, ४. शीलानुस्मृति, ५. त्यागानुस्मृति एवं ६. देवतानुस्मृति। (द्र० दी० नि०, ३३ सङ्गीतिपरियायसुत्त)

पृ० २. श्लो० ९, दश कुशलकर्मपथ (सत्कर्म)

त्रिपिटक में दश कुशल कर्मपथों का परिगणन इस तरह किया गया है; जैसे—
१. **प्राणातिपात** (हिंसा) से विरति (दूर रहना), २. **अदत्तादान** (चोरी) से विरति, ३. **काममिथ्याचार** (=व्यभिचार, मैथुन) से विरति, ४. **मृषावाद** (असत्यभाषण) से विरति, ५. **पिशुनवचन** (चुगली=परोक्ष में निन्दा) से विरति, ६. **परुष वचन** (कठोर वचन) से विरति, ७. **सम्प्रलाप** (निरर्थक बातचीत) से विरति, ८. **अभिध्या** (लोभ) स विरति (=अनभिध्या), ९. **व्यापाद** (दूसरों के प्रति द्वेष एवं घृणा भाव) से विरति (=अव्यापाद); एवं १०. **सम्यग्दृष्टि** (किसी विषय पर सत्य, उचित एवं अच्छी धारणा रखना)। (द्र०-दी० नि० ३३ सङ्गीतिपरियायसुत्त, म० नि० सम्मादिट्ठिसुत्त)

पृ० ३ श्लो० १२, पारमिता

'पारमिता' का अर्थ है पूर्णता एवं उत्कृष्टता। त्रिपिटक में—निर्वाण-प्राप्ति के छह प्रमुख साधनों के अभ्यास को पूर्णता की पराकाष्ठा (चरम सीमा) तक पहुँचा देना 'पारमिता' कहलाता है। यहाँ ये पारमिताएँ छह मानी गयी हैं, जैसे—१. दानपारमिता, २. शीलपारमिता, ३. क्षान्तिपारमिता, ४. वीर्यपारमिता, ५. ध्यानपारमिता एवं ६. प्रज्ञापारमिता। किन्हीं निकायों में चार पारमिताएँ और भी मानी गयी हैं; जैसे -१. उपायकौशल०, २. प्रणिधान०, ३. बल० एवं ४. ज्ञानपारमिता। ६+४=१०। (वस्तुतः) इन चारों का अन्तर्भाव भी छठी प्रज्ञापारमिता में ही हो जाता है।

(द्र०—दानं शीलं क्षमा वीर्यं ध्यानं प्रज्ञा उपायता।
प्रणिधानं बलं ज्ञानम्-एताः पारमिता दश'' ॥ इति
मध्यान्तविभागशास्त्र पृ० ५, श्लो० १०)

पृ० ४, श्लो० १६ मातृ-पितृपूजा

तु०—''पितृभक्त्या इमं लोकं मातृभक्त्या तु मध्यमम्।
गुरुशुश्रूषया त्वेवं ब्रह्मलोकं समश्नुते ॥

पृ० ४, श्लो० १०, दश शील

प्रव्रज्या का अधिकारी कोई भी पुरुष जब बौद्ध धर्म में प्रव्रजित होकर काषाय वस्त्र धारण कर लेता है तब वह 'श्रामणेर' कहलाता है। इस समय वह बौद्ध साहित्य का अध्ययन करता है और उसे अपने गुरु की सेवा करते हुए इन अधोलिखित दश शीलों का व्रत लेना अत्यावश्यक है—

१. पाणातिपाता वेरमणीति सिक्खापदं समादियामि ('जीवहिंसा से विरत रहूँगा'—मैं ऐसा व्रत लेता हूँ।)
२. अदिन्नादाना वेरमणी… ('चोरी करने से विरत रहूँगा'—ऐसा…)
३. अब्रह्मचरिया वेरमणी… (अपना ब्रह्मचर्यव्रतभङ्ग न होने देने का व्रत लेता हूँ।)
४. मुसावादा वेरमणी… ('असत्य भाषण से विरत रहूँगा'—ऐसा…)
५. सुरामेरय-मज्जप्पमादट्ठाना… (मद्य आदि नशीली वस्तुओं के सेवन से विरत…)।
६. विकालभोजना वेरमणी… ('दोपहर के बाद भोजन से विरत रहूँगा'—ऐसा…)
७. नच्च-गीत-वादित्त-विसूकदस्सना वेरमणी… (नृत्य, गीत, वाद्य एवं कैसा का अश्लील हाव-भाव देखने से विरत रहूँगा)
८. माला-गन्ध-विलेपन-धारण-मण्डन-विभूसनट्ठाना वेरमणी… ('माला, गन्ध-द्रव्य, उबटन अलङ्कारधारण आदि के प्रयोग से विरत रहूँगा'—ऐसा व्रत…)
९. उच्चासयन-महासयना वेरमणी… ('ऊँचे-ऊँचे, सजे हुए पलंगों पर नहीं सोऊँगा'—ऐसा व्रत…)
१०. जातरूप-रजतपटिग्गहणा वेरमणी… (सोना-चाँदी के परिग्रह से विरत रहूँगा' ऐसा व्रत लेता हूँ)।

(द्र०—पाराजिक, वि० पि०)

पृ० ५, श्लो० २३, अप्रमाद ही अमृतपद है

द्र० धम्मपद (अप्पमादवग्ग)—

अप्पमादो अमतपदं पमादो मच्चुनो पदं।
अप्पमत्ता न मीयन्ति ये पमत्ता यथा मता॥ १॥

पृ० ६, श्लो० २६ अप्रमाद का माहात्म्य

द्र०—मज्झिमनिकाय, अंगुलिमालसुत्त

पृ० ६ श्लो० २८ क्षान्तिपारमिता

तु० धम्मपद (यमकवग्ग २०)

पृ० ६. श्लो० २९ वैरपरित्याग

द्र०—धम्मपद (यमकवग्ग ३, ५, ६)

अक्कोच्छि मं अवधि मं अजिनि मं अहासि मे ।
ये तं उपनय्हन्ति वेरं तेसं न सम्मति ॥ ३ ॥
अक्कोच्छि मं अवधि मं अजिनि मं अहासि मे ।
ये तं न उपनय्हन्ति, वेरं तेसूपसम्मति ॥ ४ ॥
न हि वेरेन वेरानि सम्मतीध कुदाचनं ।
अवेरेन च सम्मन्ति एस धम्मो सनन्तनो ॥ ५ ॥

पृ० ४२. श्लो० २०४–२०८ **प्रतीत्यसमुत्पाद**—

अविद्या के होने (प्रत्यय) से संस्कार उत्पन्न होते हैं, संस्कार के होने से विज्ञान, विज्ञान के होने से नामरूप, नामरूप के होने से ये छह आयतन, छह आयतनों के होने से (विषय) स्पर्श, स्पर्श के होने से वेदना (अनुभूति), वेदना के होने से तृष्णा, तृष्णा के होने से उपादान, उपादान के होने से भव, भव के होने से जन्म, जन्म के होने से बुढ़ापा, मरना, शोक रोना-पीटना, दुःख, मानसिक चिन्ता तथा परेशानी होती है । इस प्रकार इस समग्र दुःखस्कन्ध की उत्पत्ति होती है । यह प्रतीत्यसमुत्पाद कहलाता है ।

अविद्या के समग्र वैराग्य एवं निरोध से संस्कारों का निरोध होता है; संस्कारों के निरोध से विज्ञान का निरोध, विज्ञान के निरोध से नामरूप का निरोध, नामरूप के निरोध से छह आयतनों का निरोध, छह आयतनों के निरोध से स्पर्श का निरोध, स्पर्श के निरोध से वेदना का निरोध, वेदना के निरोध से तृष्णा का निरोध, तृष्णा के निरोध से उपादान का निरोध, उपादान के निरोध से भव का निरोध, भव के निरोध से जन्म का निरोध, जन्म के निरोध से बुढ़ापा, मरना, शोक, रोना-पीटना, दुःख उद्विग्नता का निरोध होता है । इस प्रकार समग्र दुःखस्कन्ध निरुद्ध होता है ।

अविद्या और नीवरणों (दोषों) से युक्त प्राणी तृष्णा के बन्धन में बँधे हुए, वहाँ-वहाँ आसक्त होते रहते हैं—इस प्रकार उनको बार-बार जन्म लेना पड़ता है ।

लोभ-द्वेष-मोह के परिणाम एवं लोभ-द्वेष मोह के कारण किये गये कर्म का, जहाँ उसका अस्तित्व बनता है, वहीं विपाक होता है । जहाँ वह कर्मविपाक होता है, वहीं उस कर्मविपाक की अनुभूति (भोग) भी होती है, भले ही वह इस जन्म में हो या किसी दूसरे जन्म में ।

और अविद्या के नाश से, विद्या के उत्पाद से एवं तृष्णा का निरोध हो जाने पर पुनर्जन्म की कोई सम्भावना नहीं रहती । अलोभ-अद्वेष-अमोह का परिणाम, अलोभ-अद्वेष-अमोह के कारण किया गया, अलोभ-द्वेष-अमोह से उत्पन्न कर्म लोभ, द्वेष और मोह के विनष्ट हो जाने पर, स्वयं भी नष्ट हो जाता है, जड़ से समाप्त हो जाता है, भविष्य में उसके पुनरुत्पाद की कोई सम्भावना नहीं रहती ।

आर्यसत्यचतुष्टय

पृ० ४३, श्लो० २१५-२१६

१. दुःख आर्यसत्य :—श्रेष्ठ ज्ञानी जनों द्वारा अनुमोदित सत्य को 'आर्यसत्य' कहते हैं। और सत्य उस बात को कहते हैं, जिसमें किसी भी तर्क या युक्ति द्वारा कभी भी वैपरीत्य न लाया जा सके। भगवान् ने ऐसे आर्यसत्य चार बताये हैं—१. दुःख आर्यसत्य, २. दुःखसमुदय आर्यसत्य, ३. दुःखनिरोध आर्यसत्य एवं ४. दुःखनिरोधगामी प्रतिपदा (मार्ग) आर्यसत्य। इनमें हम सर्वप्रथम 'दुःख आर्यसत्य' का निरूपण कर रहे हैं—

दुःख—संसार में पैदा होना दुःख है; बुढ़ापा दुःख है, मरण भी दुःख है, शोक, रोना, कलपना, दुःखी होना, चिन्तित व उदास होना भी दुःख है, अप्रिय विषयों से संयोग दुःख है, प्रिय विषयों से वियोग भी दुःख है और जो (प्रियवस्तु) चाहते हुए भी न मिले वह तो दुःख है ही, संक्षेप में यों कहा जा सकता है कि पाँच उपादानस्कन्ध ही दुःख हैं।

जाति—उन उन प्राणियों का उन-उन योनियों में पैदा होना, जन्म लेना 'जाति' कहलाता है।

जरा—उन प्राणियों का उन-उन योनियों में जन्म लेकर बुढ़ापे की ओर बढ़ना, इन्द्रियों का शिथिल होना, दाँत आदि का टूटना, शरीर में झुर्रियाँ पड़ना आदि 'जरा' कहलाता है।

मरण—इन प्राणियों का उस-उस शरीर से च्युति, पार्थक्य, मृत्यु एवं जीवितेन्द्रिय का उपच्छेद ही 'मरण' कहलाता है।

पाँच उपादानस्कन्ध—१. रूप, २. वेदना, ३. संज्ञा, ४. संस्कार एवं ५. विज्ञान—ये पाँच उपादानस्कन्ध कहलाते हैं।

रूपस्कन्ध—चार महाभूत और इन चार महाभूतों से बनने वाले सभी प्रकार के रूप 'रूप उपादानस्कन्ध' कहलाते हैं।

चार महाभूत—आन्तरिक एवं बाह्य १. पृथ्वीधातु, २. जलधातु ३. तेजोधातु एवं ४. वायुधातु—ये 'चार महाभूत' कहलाते हैं।

रूप—जैसे सूने आकाश में काष्ठ, बल्ली, तृणपुञ्ज और मिट्टी के सहारे बनाया हुआ वृत्त घर कहलाता है; वैसे ही यह अस्थि, स्नायु, मांस और चर्म के सहारे शून्य आकाश को घेरकर बना हुआ शरीर 'रूप' कहलाता है।

वेदना—आन्तरिक शरीर में चक्षुरिन्द्रिय अविकृत ही होती है, परन्तु यदि बाह्य पदार्थ उसके सामने आ पावें तो उससे मनस्कारपूर्वक विषयज्ञान उत्पन्न नहीं हो पाता और न तज्जन्य विज्ञान भाग ही प्रादुर्भूत होता है।

विज्ञान—विज्ञान छह प्रकार के होते हैं--१. चक्षुर्विज्ञान, २. श्रोत्रविज्ञान, ३. घ्राणविज्ञान, ४. जिह्वाविज्ञान, ५. कायविज्ञान एवं ६. मनोविज्ञान। उस विज्ञान में रूप रूपोपादानस्कन्ध में, वेदना वेदनोपादानस्कन्ध में, संज्ञा संज्ञोपादानस्कन्ध में, संस्कार संस्कारोपादानस्कन्ध में संगृहीत होते हैं एवं विज्ञान में जो विज्ञानमात्र है वह विज्ञानोपादानस्कन्ध में संगृहीत होता है।

सभी संस्कार अनित्य हैं, सभी संस्कार दुःख हैं, सभी धर्म अनात्म हैं; (क्योंकि) रूप अनित्य है, वेदना अनित्य है, संज्ञा अनित्य है, संस्कार अनित्य हैं एवं विज्ञान अनित्य है। जो अनित्य है वह 'दुःख' है; जो दुःख है वह अनात्म है; जो अनात्म है, (उसके बारे में यही कहा जा सकता है कि) 'वह न मेरा है, न मैं वह हूँ, न वह मेरी आत्मा है'।

आन्तरिक व बाह्य, दूर व पास सभी प्रकार का रूप गङ्गा नदी के झाग के समान निःसार व खोखला (खाली) होता है।

वृद्ध, रोगी व मृत शरीर को देखकर इस शरीर की दुःखमयता स्पष्ट हो जाती है। कहा तो यह भी जा सकता है कि संसार के दुःखों से घिरे हुए रोते-कलपते प्राणियों के आँसू चारों महासमुद्रों के जल से अधिक ही होंगे, कम नहीं।

२. दुःखसमुदय आर्यसत्य—भगवान् ने कामतृष्णा, भवतृष्णा एवं विभव-तृष्णा को समग्र सांसारिक दुःखोत्पत्ति का कारण माना है। संसार में प्रिय एवं रुचिकर लगने वाली वस्तुओं में तृष्णा पैदा होने की चाह होने पर पैदा होती है, और रहने की चाह होने पर रहती है, फिर भले ही वे वस्तुएँ इन्द्रियाँ हों या उनके विषय; वेदना हो या संज्ञा, संस्कार हों या विज्ञान, वितर्क हों या विचार। ऐसा करते-करते उसका उसमें राग उत्पन्न होता है, रागोत्पादन से वह क्रमशः उपादान, भव, जाति, जरा, मरण, शोक, आदि के जाल में दृढ़तया आबद्ध होता जाता है।

इन कामभागों में फँसने (स्पर्श) के कारण, तृष्णा के बढ़ते जाने से राजा लोग परस्पर एक-दूसरे पर आक्रमण करते हैं, उन्हें मारते-काटते हैं, चोर लोग चोरी करते हैं, लुटेरे गाँवों और शहरों को लूटते हैं, व्यभिचारी परस्त्रियों से व्यभिचार करते हैं, जिस पाप के कारण उनको इस लोक या परलोक में नाना प्रकार के कष्ट भोगने पड़ते हैं। संक्षेप में हम यही कह सकते हैं कि एक दिन इस महापृथ्वी का अन्त हो सकता है, महासमुद्र का शोषण हो सकता है; परन्तु इस बढ़ी हुई तृष्णा के कारण उत्पन्न हुए दुःखों का अन्त होना दुष्कर लगता है।

३. दुःखनिरोध आर्यसत्य—हाँ, इस दुःख का निरोध हो सकता है यदि हम इस तृष्णा के प्रति स्वचित्त में अशेष वैराग्य की भावना उत्पन्न कर सकें। इस पूर्ण वैराग्य की भावना से ही तृष्णा का निरोध हो सकता है, तृष्णानिरोध से उपादान (परिग्रह की इच्छा) का निरोध, उपादान निरोध से भव, जाति, जरा-

मरण, शोकपरिदेव, दुःख-दौर्मनस्य का नाश (निरोध) अवश्यम्भावी है। इस तृष्णाक्षय से हुए दुःखनिरोध को ही 'निर्वाण' कहते हैं। ज्ञानियों का निष्कर्ष है कि ये राग-द्वेष-मोह ही समग्र दुःखों (फिर भले ही वे स्वयं के हों या पर के) के मूल हैं! उक्त तृष्णाक्षय से इन तीनों (राग-द्वेष-मोह) का क्षय हो जाने से प्राणी न अपने लिये कोई अहित सोच सकता है, न पर के लिये। इस प्रकार कोई भी साधन इस जन्म में निर्वाण तक पहुँच सकता है, जो अकालिक, इसी जन्म में प्राप्त होने वाला, निरन्तर उन्नतिकारक ही है।

एक ऐसा आयतन (स्थान) भी है जहाँ न पृथ्वी, न जल, न अग्नि, न वायु है, न आकाशानन्त्यायतन, न विज्ञानानन्त्यायतन, न आकिञ्चन्यायतन न नैवसंज्ञानासंज्ञायतन है; न यह लोक है न परलोक, न चन्द्रमा है न सूर्य, वहाँ न आना न जाना, न स्थिति, न विनाश न पतन न उत्पाद कहा गया है। वह तो आधाररहित, संसरणरहित एवं आलम्बनरहित है। यही (इस स्थान पर पहुँचना ही) दुःख का अन्त है।

४. दुःखनिरोधगामी मार्ग आर्यसत्य—जो विषयभोगों में मौजमस्ती, हीन (तुच्छ) ग्राम्य (अश्लील), अभद्रजनसेवित, अनार्य, अनर्थमय है; या यह जो स्वशरीर को भी कष्ट देने वाली, अनार्य, अनर्थयुक्त तपःसाधना है—जिज्ञासु को सुखानुभूति के ये दोनों ही किनारे छोड़ मध्यम मार्ग का अवलम्बन करना चाहिये। तथागत का यही उपदेश आँखें खोल देने वाला, सही उपाय बताने वाला, चित्त-वृत्ति-शमन अभिज्ञा और ज्ञान एवं निर्वाण तक पहुँचने के लिये सर्वोत्तम है।

पृ० ४२, श्लो० २११-१२ **आर्य अष्टाङ्गिक मार्ग**

दुःखनिरोध की ओर ले जाने वाला अष्टाङ्गयुक्त आर्य (श्रेष्ठ) मार्ग है, विशुद्ध ज्ञान की प्राप्ति के लिये यही एक मात्र मार्ग है, अन्य कोई नहीं। जैसे—

१. सम्यग्दृष्टि, २. सम्यक्सकल्प, ३. सम्यग्वाक्, ४. सम्यक्कर्मान्त, ५. सम्यगाजीव, ६. सम्यग्व्यायाम, ७. सम्यक्स्मृति एवं ८. सम्यक्समाधि।

१. सम्यग्दृष्टि—भगवान् कहते हैं कि जो तत्त्वचिन्तक स्वचिन्तन से प्राणातिपात आदि अकुशल, लोभ आदि अकुशलमूल, प्राणातिपात-त्याग आदि कुशल, अलोभ आदि कुशलमूल कर्मों एव चार आर्यसत्यों को भली-भाँति (सही ढंग से) जान लेता है, वही 'सम्यग्दृष्टि' कहलाता है।

'यह लोक शाश्वत है या अनन्त' आदि मिथ्यादृष्टियाँ (धारणाएँ) रखना जाति-जरा-मरण-शोक-परिदेव-दुःख-दौर्मनस्य को ही न्यौता देना है।

'आत्मा', 'पुनर्जन्म' आदि के विषय में व्यर्थ चिन्तन भी मिथ्यादृष्टि है, अपितु तत्त्व-चिन्तक को उसके बदले दुःख, दुःखसमुदय आदि पर अनवरत चिन्तन करते

हुए अपनी सम्यग्दृष्टि बनानी चाहिये। इससे स्रोतआपन्न (निर्वाण-मार्ग पकड़ने वाला) बन जाता है।

भगवान् अवतार लें या न लें, उनके द्वारा उपदिष्ट धर्म तो बने ही रहते हैं; अतः सम्यग्दृष्टि चिन्तक को उन्हीं उपदेशों पर निरन्तर चिन्तन-मनन करना चाहिये। रूप-वेदना-संज्ञा-संस्कार-विज्ञान—ये सब अनित्य हैं, विनाशी हैं। भगवदुक्त इस मान्यता पर सभी पण्डितजन एकमत हैं।

भगवान् कहते हैं कि 'वही जीव है वही शरीर है' या 'जीव अन्य है शरीर अन्य'—यह धारणा रखने पर मेरे बताये धर्म की वास्तविक साधना नहीं हो सकती।

२. **सम्यक्सङ्कल्प**--१. नैष्कर्म्यसङ्कल्प २. अव्यापादसङ्कल्प, एवं ३. अविहिंसासङ्कल्प--ये तीन प्रकार के सङ्कल्प 'सम्यक्सङ्कल्प' कहलाते हैं। भगवान् के मत में वह सर्वोत्कृष्ट सम्यक्सङ्कल्प है, जिससे उनका उपदेश सुनने के बाद आर्यश्रावक को अपना घर-बार व सांसारिक व्यवहार छोड़कर प्रव्रज्या लेने का मन होने लगे।

३. **सम्यग्वाक्**--यहाँ कोई साधक असत्यभाषण छोड़कर, उससे दूर रहता है और सत्यवादी, सत्यभाषण में विश्वास करता हुआ, यथार्थवचन से जनता का विश्वासपात्र बन जाता है। उससे यदि किसी सभा, जनसमूह या राजदरबार में किसी बात के विषय में पूछा जाय तो वह जो सुना या देखा है, वही कहता है, झूठ नहीं बोलता। वह किसी की चुगली कर एक दूसरे को नहीं लड़ाता, कठोर वाणी नहीं बोलता, व्यर्थ बकवाद नहीं करता, विरोधियों (चोर-लुटेरों) द्वारा पीटे जाने पर भी उनके विरुद्ध मन में मैल नहीं लाता—यही 'सम्यग्वाक्' कहलाता है।

४. **सम्यक्कर्मान्त** वह है जो सन्मार्ग पर चलने की इच्छा रखता हुआ हिंसा, चोरी, व्यभिचार, फिर वह भले ही किसी भी या कैसी भी परायी स्त्री के साथ क्यों न हो, को छोड़कर अहिंसारत रहता है, दूसरे से दी हुई चीज को ही लेता है, बलपूर्वक नहीं, असत्यभाषण एवं और सभी प्रकार के व्यभिचार से दूर रहता है।

५. **सम्यगाजीव**—यहाँ कोई आर्यश्रावक मिथ्या आजीव (आजीविका= जीवनयापन-वृत्ति) छोड़कर, उचित सही आजीविका से जीवन-यापन करता है—यह 'सम्यक्-आजीव' कहलाता है। धर्म के उपासक को ये पाँच दूषित व्यापारिक बातें कभी नहीं करनी चाहिये—शस्त्र का व्यापार, प्राणियों का व्यापार, मांस का व्यापार, मद्य (शराब) का व्यापार एवं जहरीली चीजों का व्यापार।

६. **सम्यग्व्यायाम**--सम्यग्व्यायाम से तात्पर्य है, सम्यक्प्रयत्न। ('व्यायाम', 'प्रधान' और 'प्रयत्न'—ये तीनों शब्द एक ही अर्थ को बताते हैं।) सम्यग्व्यायाम को समझाने के लिये वह चार भागों में विभक्त किया गया है, वे हैं—संवरप्रधान, प्रहाणप्रधान, भावनाप्रधान और अनुरक्षणप्रधान।

संवरप्रधान—कोई साधक अनुत्पन्न पापमय अकुशल धर्मों के अनुत्पाद के लिये प्रयत्न करता है, श्रम करता है, चित्त को वश में करता है, दबाये रखता है-- उसका यह प्रयत्न 'संवरप्रधान' है।

प्रहाणप्रधान—कोई साधक उत्पन्न पापमय अकुशल धर्मों के नाश (प्रहाण) के लिये इच्छा व प्रयास करता है, उधर बढ़ता है, चित्त को वश में करता है; दबाता है। और उत्पन्न हुए कामवितर्क आदि सभी पापमय अकुशल धर्मों को स्वीकार नहीं करता, उन्हें छोड़ देता है—उसका यह प्रयत्न 'प्रहाणप्रधान' है।

भावनाप्रधान—कोई साधक अनुत्पन्न कुशल धर्मों के उत्पाद के लिये इच्छा व प्रयास करता है, उधर बढ़ता है, चित्त को वश में करता है, दबाता है--उसका यह प्रयत्न 'भावनाप्रधान' कहलाता है।

अनुरक्षणप्रधान--कोई साधक उत्पन्न कुशल धर्मों की स्थिति, विपुलता एवं परिपूर्णता के लिये इच्छा व प्रयास करता है, उधर बढ़ता है, तदर्थ चित्त को वश में करता है, दबाता है--उसका यह प्रयत्न 'अनुरक्षणप्रधान' कहलाता है।।

७. **सम्यक्स्मृति**--कोई साधक इस शरीर के अङ्गों को ही शरीर की वास्तविकता समझते हुए (काया में कायानुपश्यी हो) उद्योगशील, अनुभव और ज्ञान से युक्त, स्मृतिसम्पन्न, लोक (शरीर) सम्बन्धी लोभ और दुःख-दौर्मनस्य का संवरण कर अभ्यास करता है। वेदनाओं में वेदनानुपश्यी, चित्त में चित्तानुपश्यी और धर्मों में (अर्थात् पाँच उपादानस्कन्धों में), छह आध्यात्मिक एव बाह्य आयतनों में, सात बोध्यङ्गों में तथा चार आर्यसत्यों में धर्मानुपश्यी होकर उद्योगशील, अनुभव एवं ज्ञान से युक्त हो, स्मृतिसम्पन्न, लोक सम्बन्धी लोभ और दुःख दौर्मनस्य का संवरण कर अभ्यास करता है।

८. **सम्यक्समाधि**--चित्त की एकाग्रता को ही 'समाधि' कहते हैं। चार स्मृतिप्रस्थान समाधि के कारण हैं। चार सम्यक्प्रधान समाधि द्वारा परिष्कृत होते हैं। उन-उन धर्मों का अभ्यास करना, भावना करना, या अधिक बढ़ाना ही समाधि की भावना है। जैसे पाँच नीवरणों को दूर हटाना, चार ध्यानों की मैत्री, करुणा, मुदिता एवं उपेक्षासहगत चित्त से भावना करना तथा आकाशानन्त्यायतन से संज्ञा-वेदयितनिरोध तक की चित्त में भावना करना ही सम्यक्समाधि है। इस समाधि से अनुपादान (अपरिग्रह) भावना में दृढ़ता लाकर चित्तवृत्ति को उसी तरह निरुद्ध कर लिया जाता है, जैसे दीपक में तैल और बत्ती के समाप्त हो जाने पर दीपक बुझ जाता है। भगवान् बुद्ध के मत में चित्तवृत्तिनिरोध ही निर्वाण है।

टिप्पणी

पृ० २, श्लो० ७, छह अनुस्मृतियाँ

अन्य विषयों को त्याग कर केवल एक ही विषय (साध्य) पर ध्यान लगाकर उसे स्मरण करना ही 'अनुस्मृति' कहलाता है। त्रिपिटक में इनकी संख्या छह (६) बतायी गयी है; जैसे—१. बुद्धानुस्मृति, २. धर्मानुस्मृति, ३. सङ्घानुस्मृति, ४. शीलानुस्मृति, ५. त्यागानुस्मृति एवं ६. देवतानुस्मृति। (द्र० दी० नि०, ३३ सङ्गीतिपरियायसुत्त)

पृ० २. श्लो० ९, दश कुशलकर्मपथ (सत्कर्म)

त्रिपिटक में दश कुशल कर्मपथों का परिगणन इस तरह किया गया है; जैसे—१. **प्राणातिपात** (हिंसा) से विरति (दूर रहना), २. **अदत्तादान** (चोरी) से विरति, ३. **काममिथ्याचार** (=व्यभिचार, मैथुन) से विरति, ४. **मृषावाद** (असत्यभाषण) से विरति, ५. **पिशुनवचन** (चुगली=परोक्ष में निन्दा) से विरति, ६. **परुष वचन** (कठोर वचन) से विरति, ७. **सम्प्रलाप** (निरर्थक बातचीत) से विरति, ८. **अभिध्या** (लोभ) से विरति (=अनभिध्या), ९. **व्यापाद** (दूसरों के प्रति द्वेष एवं घृणा भाव) से विरति (=अव्यापाद); एवं १०. **सम्यग्दृष्टि** (किसी विषय पर सत्य, उचित एवं अच्छी धारणा रखना)। (द्र०-दी० नि० ३३ सङ्गीतिपरियायसुत्त, म० नि० सम्मादिट्ठिसुत्त)

पृ० ३ श्लो० १२, पारमिता

'पारमिता' का अर्थ है पूर्णता एवं उत्कृष्टता। त्रिपिटक में—निर्वाण-प्राप्ति के छह प्रमुख साधनों के अभ्यास को पूर्णता की पराकाष्ठा (चरम सीमा) तक पहुँचा देना 'पारमिता' कहलाता है। यहाँ ये पारमिताएँ छह मानी गयी हैं, जैसे—१. दानपारमिता, २. शीलपारमिता, ३. क्षान्तिपारमिता, ४. वीर्यपारमिता, ५. ध्यानपारमिता एवं ६. प्रज्ञापारमिता। किन्हीं निकायों में चार पारमिताएँ और भी मानी गयी हैं; जैसे -१. उपायकौशल०, २. प्रणिधान०, ३. बल० एवं ४. ज्ञानपारमिता। ६+४=१०। (वस्तुतः) इन चारों का अन्तर्भाव भी छठी प्रज्ञापारमिता में ही हो जाता है।

(द्र०—दानं शीलं क्षमा वीर्यं ध्यानं प्रज्ञा उपायता।
प्रणिधानं बलं ज्ञानम्-एताः पारमिता दश" ॥ इति
मध्यान्तविभागशास्त्र पृ० ५, श्लो० १०)

पृ० ४, श्लो० १६ मातृ-पितृपूजा

तु०—"पितृभक्त्या इमं लोकं मातृभक्त्या तु मध्यमम्।
गुरुशुश्रूषया त्वेवं ब्रह्मलोकं समश्नुते ॥

पृ० ४, श्लो० १०, दश शील

प्रव्रज्या का अधिकारी कोई भी पुरुष जब बौद्ध धर्म में प्रव्रजित होकर काषाय वस्त्र धारण कर लेता है तब वह 'श्रामणेर' कहलाता है। इस समय वह बौद्ध साहित्य का अध्ययन करता है और उसे अपने गुरु की सेवा करते हुए इन अधो-लिखित दश शीलों का व्रत लेना अत्यावश्यक है—

१. पाणातिपाता वेरमणीति सिक्खापदं समादियामि ('जीवहिंसा से विरत रहूँगा'—मैं ऐसा व्रत लेता हूँ।)

२. अदिन्नादाना वेरमणी··· ('चोरी करने से विरत रहूँगा'—ऐसा···)

३. अब्रह्मचरिया वेरमणी··· (अपना ब्रह्मचर्यव्रतभङ्ग न होने देने का व्रत लेता हूँ।)

४. मुसावादा वेरमणी··· ('असत्य भाषण से विरत रहूँगा'—ऐसा···)

५. सुरामेरय-मज्जप्पमादट्ठाना··· (मद्य आदि नशीली वस्तुओं के सेवन से विरत···)।

६. विकालभोजना वेरमणी··· ('दोपहर के बाद भोजन से विरत रहूँगा'—ऐसा···)

७. नच्च-गीत-वादित्त-विसूकदस्सना वेरमणी··· (नृत्य, गीत, वाद्य एवं कैसा का अश्लील हाव-भाव देखने से विरत रहूँगा)

८. माला-गन्ध-विलेपन-धारण-मण्डन-विभूसनट्ठाना वेरमणी··· ('माला, गन्ध-द्रव्य, उबटन अलङ्कारधारण आदि के प्रयोग से विरत रहूँगा'—ऐसा व्रत···)

९. उच्चासयन-महासयना वेरमणी··· ('ऊँचे-ऊँचे, सजे हुए पलंगों पर नहीं सोऊँगा'—ऐसा व्रत···)

१०. जातरूप-रजतपटिग्गहणा वेरमणी··· (सोना-चाँदी के परिग्रह से विरत रहूँगा' ऐसा व्रत लेता हूँ)।

(द्र०—पाराजिक, वि० पि०)

पृ० ५, श्लो० २३, अप्रमाद ही अमृतपद है

द्र० धम्मपद (अप्पमादवग्ग)—

अप्पमादो अमतपदं पमादो मच्चुनो पदं।
अप्पमत्ता न मीयन्ति ये पमत्ता यथा मता ॥ १ ॥

पृ० ६, श्लो० २६ अप्रमाद का माहात्म्य

द्र०—मज्झिमनिकाय, अंगुलिमालसुत्त

पृ० ६, श्लो० २८ क्षान्तिपारमिता

तु० धम्मपद (यमकवग्ग २०)

पृ० ६. श्लो० २९ वैरपरित्याग

द्र०—धम्मपद (यमकवग्ग ३, ५, ६)

अक्कोच्छि मं अवधि मं अजिनि मं अहासि मे ।
ये तं उपनय्हन्ति वेरं तेसं न सम्मति ।। ३ ।।
अक्कोच्छि मं अवधि मं अजिनि मं अहासि मे ।
ये तं न उपनय्हन्ति, वेरं तेसूपसम्मति ।। ४ ।।
न हि वेरेन वेरानि सम्मतीध कुदाचनं ।
अवेरेन च सम्मन्ति एस धम्मो सनन्तनो ।। ५ ।।

पृ० ४२. श्लो० २०४–२०८ प्रतीत्यसमुत्पाद—

अविद्या के होने (प्रत्यय) से संस्कार उत्पन्न होते हैं, संस्कार के होने से विज्ञान, विज्ञान के होने से नामरूप, नामरूप के होने से ये छह आयतन, छह आयतनों के होने से (विषय) स्पर्श, स्पर्श के होने से वेदना (अनुभूति), वेदना के होने से तृष्णा, तृष्णा के होने से उपादान, उपादान के होने से भव, भव के होने से जन्म, जन्म के होने से बुढ़ापा, मरना, शोक रोना-पीटना, दुःख, मानसिक चिन्ता तथा परेशानी होती है। इस प्रकार इस समग्र दुःखस्कन्ध की उत्पत्ति होती है। यह प्रतीत्यसमुत्पाद कहलाता है।

अविद्या के समग्र वैराग्य एवं निरोध से संस्कारों का निरोध होता है; संस्कारों के निरोध से विज्ञान का निरोध, विज्ञान के निरोध से नामरूप का निरोध, नामरूप के निरोध से छह आयतनों का निरोध, छह आयतनों के निरोध से स्पर्श का निरोध, स्पर्श के निरोध से वेदना का निरोध, वेदना के निरोध से तृष्णा का निरोध, तृष्णा के निरोध से उपादान का निरोध, उपादान के निरोध से भव का निरोध, भव के निरोध से जन्म का निरोध, जन्म के निरोध से बुढ़ापा, मरना, शोक, रोना-पीटना, दुःख उद्विग्नता का निरोध होता है। इस प्रकार समग्र दुःखस्कन्ध निरुद्ध होता है।

अविद्या और नीवरणों (दोषों) से युक्त प्राणी तृष्णा के बन्धन में बँधे हुए, वहाँ-वहाँ आसक्त होते रहते हैं—इस प्रकार उनको बार-बार जन्म लेना पड़ता है।

लोभ-द्वेष-मोह के परिणाम एवं लोभ-द्वेष मोह के कारण किये गये कर्म का, जहाँ उसका अस्तित्व बनता है, वहीं विपाक होता है। जहाँ वह कर्मविपाक होता है, वहीं उस कर्मविपाक की अनुभूति (भोग) भी होती है, भले ही वह इस जन्म में हो या किसी दूसरे जन्म में।

और अविद्या के नाश से, विद्या के उत्पाद से एवं तृष्णा का निरोध हो जाने पर पुनर्जन्म की कोई सम्भावना नहीं रहती। अलोभ-अद्वेष-अमोह का परिणाम, अलोभ-अद्वेष-अमोह के कारण किया गया, अलोभ-द्वेष-अमोह से उत्पन्न कर्म लोभ, द्वेष और मोह के विनष्ट हो जाने पर, स्वयं भी नष्ट हो जाता है, जड़ से समाप्त हो जाता है, भविष्य में उसके पुनरुत्पाद की कोई सम्भावना नहीं रहती।

आर्यसत्यचतुष्टय

पृ० ४३, श्लो० २१५-२१६

१. दुःख आर्यसत्य :—श्रेष्ठ ज्ञानी जनों द्वारा अनुमोदित सत्य को 'आर्यसत्य' कहते हैं। और सत्य उस बात को कहते हैं, जिसमें किसी भी तर्क या युक्ति द्वारा कभी भी वैपरीत्य न लाया जा सके। भगवान् ने ऐसे आर्यसत्य चार बताये हैं—१. दुःख आर्यसत्य, २. दुःखसमुदय आर्यसत्य, ३. दुःखनिरोध आर्यसत्य एवं ४. दुःखनिरोधगामी प्रतिपदा (मार्ग) आर्यसत्य। इनमें हम सर्वप्रथम 'दुःख आर्यसत्य' का निरूपण कर रहे हैं—

दुःख—संसार में पैदा होना दुःख है; बुढ़ापा दुःख है, मरण भी दुःख है, शोक, रोना, कलपना, दुःखी होना, चिन्तित व उदास होना भी दुःख है, अप्रिय विषयों से संयोग दुःख है, प्रिय विषयों से वियोग भी दुःख है और जो (प्रियवस्तु) चाहते हुए भी न मिले वह तो दुःख है ही, संक्षेप में यों कहा जा सकता है कि पाँच उपादानस्कन्ध ही दुःख हैं।

जाति—उन उन प्राणियों का उन-उन योनियों में पैदा होना, जन्म लेना 'जाति' कहलाता है।

जरा—उन प्राणियों का उन-उन योनियों में जन्म लेकर बुढ़ापे की ओर बढ़ना, इन्द्रियों का शिथिल होना, दाँत आदि का टूटना, शरीर में झुर्रियाँ पड़ना आदि 'जरा' कहलाता है।

मरण—इन प्राणियों का उस-उस शरीर से च्युति, पार्थक्य, मृत्यु एवं जीवितेन्द्रिय का उपच्छेद ही 'मरण' कहलाता है।

पाँच उपादानस्कन्ध—१. रूप, २. वेदना, ३. संज्ञा, ४. संस्कार एवं ५. विज्ञान—ये पाँच उपादानस्कन्ध कहलाते हैं।

रूपस्कन्ध—चार महाभूत और इन चार महाभूतों से बनने वाले सभी प्रकार के रूप 'रूप उपादानस्कन्ध' कहलाते हैं।

चार महाभूत—आन्तरिक एवं बाह्य १. पृथ्वीधातु, २. जलधातु ३. तेजोधातु एवं ४. वायुधातु—ये 'चार महाभूत' कहलाते हैं।

रूप—जैसे सूने आकाश में काष्ठ, बल्ली, तृणपुञ्ज और मिट्टी के सहारे बनाया हुआ वृत्त घर कहलाता है; वैसे ही यह अस्थि, स्नायु, मांस और चर्म के सहारे शून्य आकाश को घेरकर बना हुआ शरीर 'रूप' कहलाता है।

वेदना—आन्तरिक शरीर में चक्षुरिन्द्रिय अविकृत ही होती है, परन्तु यदि बाह्य पदार्थ उसके सामने आ पावें तो उससे मनस्कारपूर्वक विषयज्ञान उत्पन्न नहीं हो पाता और न तज्जन्य विज्ञान भाग ही प्रादुर्भूत होता है।

विज्ञान—विज्ञान छह प्रकार के होते हैं--१. चक्षुर्विज्ञान, २. श्रोत्रविज्ञान, ३. घ्राणविज्ञान, ४. जिह्वाविज्ञान, ५. कायविज्ञान एवं ६. मनोविज्ञान। उस विज्ञान में रूप रूपोपादानस्कन्ध में, वेदना वेदनोपादानस्कन्ध में, संज्ञा संज्ञोपादानस्कन्ध में, संस्कार संस्कारोपादानस्कन्ध में संगृहीत होते हैं एवं विज्ञान में जो विज्ञानमात्र है वह विज्ञानोपादानस्कन्ध में संगृहीत होता है।

सभी संस्कार अनित्य हैं, सभी संस्कार दुःख हैं, सभी धर्म अनात्म हैं; (क्योंकि) रूप अनित्य है, वेदना अनित्य है, संज्ञा अनित्य है, संस्कार अनित्य हैं एवं विज्ञान अनित्य है। जो अनित्य है वह 'दुःख' है; जो दुःख है वह अनात्म है; जो अनात्म है, (उसके बारे में यही कहा जा सकता है कि) 'वह न मेरा है, न मैं वह हूँ, न वह मेरी आत्मा है'।

आन्तरिक व बाह्य, दूर व पास सभी प्रकार का रूप गङ्गा नदी के झाग के समान निःसार व खोखला (खाली) होता है।

वृद्ध, रोगी व मृत शरीर को देखकर इस शरीर की दुःखमयता स्पष्ट हो जाती है। कहा तो यह भी जा सकता है कि संसार के दुःखों से घिरे हुए रोते-कलपते प्राणियों के आँसू चारों महासमुद्रों के जल से अधिक ही होंगे, कम नहीं।

२. **दुःखसमुदय आर्यसत्य**—भगवान् ने कामतृष्णा, भवतृष्णा एवं विभवतृष्णा को समग्र सांसारिक दुःखोत्पत्ति का कारण माना है। संसार में प्रिय एवं रुचिकर लगने वाली वस्तुओं में तृष्णा पैदा होने की चाह होने पर पैदा होती है, और रहने की चाह होने पर रहती है, फिर भले ही वे वस्तुएँ इन्द्रियाँ हों या उनके विषय; वेदना हो या संज्ञा, संस्कार हों या विज्ञान, वितर्क हों या विचार। ऐसा करते-करते उसका उसमें राग उत्पन्न होता है, रागोत्पादन से वह क्रमशः उपादान, भव, जाति, जरा, मरण, शोक, आदि के जाल में दृढ़तया आबद्ध होता जाता है।

इन कामभागों में फँसने (स्पर्श) के कारण, तृष्णा के बढ़ते जाने से राजा लोग परस्पर एक-दूसरे पर आक्रमण करते हैं, उन्हें मारते-काटते हैं, चोर लोग चोरी करते हैं, लुटेरे गाँवों और शहरों को लूटते हैं, व्यभिचारी परस्त्रियों से व्यभिचार करते हैं, जिस पाप के कारण उनको इस लोक या परलोक में नाना प्रकार के कष्ट भोगने पड़ते हैं। संक्षेप में हम यही कह सकते हैं कि एक दिन इस महापृथ्वी का अन्त हो सकता है, महासमुद्र का शोषण हो सकता है; परन्तु इस बढ़ी हुई तृष्णा के कारण उत्पन्न हुए दुःखों का अन्त होना दुष्कर लगता है।

३. **दुःखनिरोध आर्यसत्य**—हाँ, इस दुःख का निरोध हो सकता है यदि हम इस तृष्णा के प्रति स्वचित्त में अशेष वैराग्य की भावना उत्पन्न कर सकें। इस पूर्ण वैराग्य की भावना से ही तृष्णा का निरोध हो सकता है, तृष्णानिरोध से उपादान (परिग्रह की इच्छा) का निरोध, उपादान निरोध से भव, जाति, जरा-

मरण, शोकपरिदेव, दुःख-दौर्मनस्य का नाश (निरोध) अवश्यम्भावी है। इस तृष्णाक्षय से हुए दुःखनिरोध को ही 'निर्वाण' कहते हैं। ज्ञानियों का निष्कर्ष है कि ये राग-द्वेष-मोह ही समग्र दुःखों (फिर भले ही वे स्वयं के हों या पर के) के मूल हैं। उक्त तृष्णाक्षय से इन तीनों (राग-द्वेष-मोह) का क्षय हो जाने से प्राणी न अपने लिये कोई अहित सोच सकता है, न पर के लिये। इस प्रकार कोई भी साधन इस जन्म में निर्वाण तक पहुँच सकता है, जो अकालिक, इसी जन्म में प्राप्त होने वाला, निरन्तर उन्नतिकारक ही है।

एक ऐसा आयतन (स्थान) भी है जहाँ न पृथ्वी, न जल, न अग्नि, न वायु है, न आकाशानन्त्यायतन, न विज्ञानानन्त्यायतन, न आकिञ्चन्यायतन न नैवसंज्ञानासंज्ञायतन है; न यह लोक है न परलोक, न चन्द्रमा है न सूर्य, वहाँ न आना न जाना, न स्थिति, न विनाश न पतन न उत्पाद कहा गया है। वह तो आधाररहित, संसरणरहित एवं आलम्बनरहित है। यही (इस स्थान पर पहुँचना ही) दुःख का अन्त है।

४. दुःखनिरोधगामी मार्ग आर्यसत्य—जो विषयभोगों में मौजमस्ती, हीन (तुच्छ) ग्राम्य (अश्लील), अभद्रजनसेवित, अनार्य, अनर्थमय है; या यह जो स्वशरीर को भी कष्ट देने वाली, अनार्य, अनर्थयुक्त तपःसाधना है—जिज्ञासु को सुखानुभूति के ये दोनों ही किनारे छोड़ मध्यम मार्ग का अवलम्बन करना चाहिये। तथागत का यही उपदेश आँखें खोल देने वाला, सही उपाय बताने वाला, चित्तवृत्ति-शमन अभिज्ञा और ज्ञान एवं निर्वाण तक पहुँचने के लिये सर्वोत्तम है।

पृ० ४२, श्लो० २११–१२ **आर्य अष्टाङ्गिक मार्ग**

दुःखनिरोध की ओर ले जाने वाला अष्टाङ्गयुक्त आर्य (श्रेष्ठ) मार्ग है, विशुद्ध ज्ञान की प्राप्ति के लिये यही एक मात्र मार्ग है, अन्य कोई नहीं। जैसे—

१. सम्यग्दृष्टि, २. सम्यक्सकल्प, ३. सम्यग्वाक्, ४. सम्यक्कर्मान्त, ५. सम्यगाजीव, ६. सम्यग्व्यायाम, ७. सम्यक्स्मृति एवं ८. सम्यक्समाधि।

१. सम्यग्दृष्टि—भगवान् कहते हैं कि जो तत्त्वचिन्तक स्वचिन्तन से प्राणातिपात आदि अकुशल, लोभ आदि अकुशलमूल, प्राणातिपात-त्याग आदि कुशल, अलोभ आदि कुशलमूल कर्मों एव चार आर्यसत्यों को भली-भाँति (सही ढंग से) जान लेता है, वही 'सम्यग्दृष्टि' कहलाता है।

'यह लोक शाश्वत है या अनन्त' आदि मिथ्यादृष्टियाँ (धारणाएँ) रखना जाति-जरा-मरण-शोक-परिदेव-दुःख-दौर्मनस्य को ही न्यौता देना है।

'आत्मा', 'पुनर्जन्म' आदि के विषय में व्यर्थ चिन्तन भी मिथ्यादृष्टि है; अपितु तत्त्व-चिन्तक को उसके बदले दुःख, दुःखसमुदय आदि पर अनवरत चिन्तन करते

हुए अपनी सम्यग्दृष्टि बनानी चाहिये। इससे स्रोतआपन्न (निर्वाण-मार्ग पकड़ने वाला) बन जाता है।

भगवान् अवतार लें या न लें, उनके द्वारा उपदिष्ट धर्म तो बने ही रहते हैं; अतः सम्यग्दृष्टि चिन्तक को उन्हीं उपदेशों पर निरन्तर चिन्तन-मनन करना चाहिये। रूप-वेदना-संज्ञा-संस्कार-विज्ञान—ये सब अनित्य हैं, विनाशी हैं। भगवदुक्त इस मान्यता पर सभी पण्डितजन एकमत हैं।

भगवान् कहते हैं कि 'वही जीव है वही शरीर है' या 'जीव अन्य है शरीर अन्य'—यह धारणा रखने पर मेरे बताये धर्म की वास्तविक साधना नहीं हो सकती।

२. **सम्यक्सङ्कल्प**--१. नैष्कर्म्यसङ्कल्प २. अव्यापादसङ्कल्प, एवं ३. अविहिंसासङ्कल्प--ये तीन प्रकार के सङ्कल्प 'सम्यक्सङ्कल्प' कहलाते हैं। भगवान् के मत में वह सर्वोत्कृष्ट सम्यक्सङ्कल्प है, जिससे उनका उपदेश सुनने के बाद आर्यश्रावक को अपना घर-बार व सांसारिक व्यवहार छोड़कर प्रव्रज्या लेने का मन होने लगे।

३. **सम्यग्वाक्**--यहाँ कोई साधक असत्यभाषण छोड़कर, उससे दूर रहता है और सत्यवादी, सत्यभाषण में विश्वास करता हुआ, यथार्थवचन से जनता का विश्वासपात्र बन जाता है। उससे यदि किसी सभा, जनसमूह या राजदरबार में किसी बात के विषय में पूछा जाय तो वह जो सुना या देखा है, वही कहता है, झूठ नहीं बोलता। वह किसी की चुगली कर एक दूसरे को नहीं लड़ाता, कठोर वाणी नहीं बोलता, व्यर्थ बकवाद नहीं करता, विरोधियों (चोर-लुटेरों) द्वारा पीटे जाने पर भी उनके विरुद्ध मन में मैल नहीं लाता—यही 'सम्यग्वाक्' कहलाता है।

४. **सम्यक्कर्मान्त** वह है जो सन्मार्ग पर चलने की इच्छा रखता हुआ हिंसा, चोरी, व्यभिचार, फिर वह भले ही किसी भी या कैसी भी परायी स्त्री के साथ क्यों न हो, को छोड़कर अहिंसारत रहता है, दूसरे से दी हुई चीज को ही लेता है, बलपूर्वक नहीं, असत्यभाषण एवं और सभी प्रकार के व्यभिचार से दूर रहता है।

५. **सम्यगाजीव**—यहाँ कोई आर्यश्रावक मिथ्या आजीव (आजीविका=जीवनयापन-वृत्ति) छोड़कर, उचित सही आजीविका से जीवन-यापन करता है—यह 'सम्यक्-आजीव' कहलाता है। धर्म के उपासक को ये पाँच दूषित व्यापारिक बातें कभी नहीं करनी चाहिये--शस्त्र का व्यापार, प्राणियों का व्यापार, मांस का व्यापार, मद्य (शराब) का व्यापार एवं जहरीली चीजों का व्यापार।

६. **सम्यग्व्यायाम**--सम्यग्व्यायाम से तात्पर्य है, सम्यक्प्रयत्न। ('व्यायाम', 'प्रधान' और 'प्रयत्न'—ये तीनों शब्द एक ही अर्थ को बताते हैं।) सम्यग्व्यायाम को समझाने के लिये वह चार भागों में विभक्त किया गया है, वे हैं—संवरप्रधान, प्रहाणप्रधान, भावनाप्रधान और अनुरक्षणप्रधान।

संवरप्रधान—कोई साधक अनुत्पन्न पापमय अकुशल धर्मों के अनुत्पाद के लिये प्रयत्न करता है, श्रम करता है, चित्त को वश में करता है, दबाये रखता है-- उसका यह प्रयत्न 'संवरप्रधान' है।

प्रहाणप्रधान—कोई साधक उत्पन्न पापमय अकुशल धर्मों के नाश (प्रहाण) के लिये इच्छा व प्रयास करता है, उधर बढ़ता है, चित्त को वश में करता है; दबाता है। और उत्पन्न हुए कामवितर्क आदि सभी पापमय अकुशल धर्मों को स्वीकार नहीं करता, उन्हें छोड़ देता है—उसका यह प्रयत्न 'प्रहाणप्रधान' है।

भावनाप्रधान—कोई साधक अनुत्पन्न कुशल धर्मों के उत्पाद के लिये इच्छा व प्रयास करता है, उधर बढ़ता है, चित्त को वश में करता है, दबाता है--उसका यह प्रयत्न 'भावनाप्रधान' कहलाता है।

अनुरक्षणप्रधान--कोई साधक उत्पन्न कुशल धर्मों की स्थिति, विपुलता एवं परिपूर्णता के लिये इच्छा व प्रयास करता है, उधर बढ़ता है, तदर्थ चित्त को वश में करता है, दबाता है--उसका यह प्रयत्न 'अनुरक्षणप्रधान' कहलाता है।।

७. **सम्यक्स्मृति**--कोई साधक इस शरीर के अङ्गों को ही शरीर की वास्तविकता समझते हुए (काया में कायानुपश्यी हो) उद्योगशील, अनुभव और ज्ञान से युक्त, स्मृतिसम्पन्न, लोक (शरीर) सम्बन्धी लोभ और दुःख-दौर्मनस्य का संवरण कर अभ्यास करता है। वेदनाओं में वेदनानुपश्यी, चित्त में चित्तानुपश्यी और धर्मों में (अर्थात् पाँच उपादानस्कन्धों में), छह आध्यात्मिक एवं बाह्य आयतनों में, सात बोध्यङ्गों में तथा चार आर्यसत्यों में धर्मानुपश्यी होकर उद्योगशील, अनुभव एवं ज्ञान से युक्त हो, स्मृतिसम्पन्न, लोक सम्बन्धी लोभ और दुःख दौर्मनस्य का संवरण कर अभ्यास करता है।

८. **सम्यक्समाधि**--चित्त की एकाग्रता को ही 'समाधि' कहते हैं। चार स्मृतिप्रस्थान समाधि के कारण हैं। चार सम्यक्प्रधान समाधि द्वारा परिष्कृत होते हैं। उन-उन धर्मों का अभ्यास करना, भावना करना, या अधिक बढ़ाना ही समाधि की भावना है। जैसे पाँच नीवरणों को दूर हटाना, चार ध्यानों की मैत्री, करुणा, मुदिता एवं उपेक्षासहगत चित्त से भावना करना तथा आकाशानन्त्यायतन से संज्ञा-वेदयितनिरोध तक की चित्त में भावना करना ही सम्यक्समाधि है। इस समाधि से अनुपादान (अपरिग्रह) भावना में दृढ़ता लाकर चित्तवृत्ति को उसी तरह निरुद्ध कर लिया जाता है, जैसे दीपक में तैल और बत्ती के समाप्त हो जाने पर दीपक बुझ जाता है। भगवान् बुद्ध के मत में चित्तवृत्तिनिरोध ही निर्वाण है।

बौद्धभारती
पोस्ट बॉक्स नं० 1049
वाराणसी-221 001